आगम हिंदी-संस्करण ग्रंथमाला

ग्रंथ १

भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में

दशवैकालिक
और
उत्तराध्ययन

वाचना - प्रमुख
आचार्य तुलसी

संपादक-अनुवादक
मुनि नथमल

सहयोगी
मुनि मीठालाल
मुनि दुलहराज

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

प्रबन्ध-सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन
(जै० वि० भा०)

प्रकाशन तिथि :
विक्रम संवत् २०३१
कार्तिक कृष्णा १३
(२५००वां निर्वाण-दिवस)

मूल्य : पन्द्रह रुपये

मुद्रक :
उद्योगशाला प्रेस,
किंग्सवे, दिल्ली-९

प्रकाशकीय

जब श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा (कलकत्ता) द्वारा आगम-प्रकाशन का काम आरम्भ हुआ, तभी से मेरा यह सुझाव रहा कि अंग्रेजी के 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट सीरीज' की तरह आगम ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद मात्र की एक ग्रन्थ-माला आरम्भ की जाय। हर्ष है कि इस ग्रन्थ के साथ उक्त कार्य का 'जैन विश्व भारती' संस्थान के द्वारा सूत्रपात हो रहा है।

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दोनों आगम-ग्रन्थ जैन आचार-गोचर और दार्शनिक विचारधारा का अनन्य प्रतिनिधित्व करते हैं और इस दृष्टि से बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। दशवैकालिक में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि धर्म-तत्त्वों और आचार विचार का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन है तो उत्तराध्ययन में वैराग्यपूर्ण कथा-प्रसंगों के द्वारा धार्मिक जीवन का अति प्रभावशाली चित्रांकन तथा तात्त्विक विचारों का हृदयग्राही संग्रह है।

उक्त दोनों आगमों में भगवान् महावीर की वाणी का पर्याप्त संग्रह है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के पावन अवसर पर उक्त आगमों का यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के लिए अत्यन्त उपादेय होगा। इससे भगवान् महावीर के चिन्तन, विचार, दर्शन और धर्म-क्रान्ति आदि का सम्यक् परिचय पाठकों को उपलब्ध होगा।

दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन इन दोनों आगमों के मूलपाठ संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और विशद टिप्पणियों से संयुक्त अलग अलग संस्करण जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा (कलकत्ता) द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। दशवैकालिक का दूसरा संस्करण 'जैन विश्व भारती' द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इस हिन्दी अनुवाद के बाद उन ग्रन्थों का अवगाहन पाठकों को और भी अधिक आनन्द की रसानुभूति प्रदान करेगा।

हमें आशा है कि हमारे इस प्रकाशन का सर्वत्र स्वागत होगा।

४६८४, अन्सारी रोड
२१, दरियागंज
दिल्ली ६

श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन

सम्पादकीय

आगम-सम्पादन का कार्य बीस वर्षों से चल रहा है। आचार्यश्री तुलसी के मन में आगम-सम्पादन का एक संकल्प उठा। कुछ ही दिनों में उस की क्रियान्विति शुरू हो गई। वह आज एक वाचना का रूप ले रही है।

जैन परम्परा में वाचना का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व तक आगम की चार वाचनाएँ हो चुकी हैं। देवर्द्धिगणी के बाद कोई सुनियोजित आगम-वाचना नहीं हुई। उनके वाचना-काल में जो आगम लिखे गये थे, वे इस लम्बी अवधि में बहुत ही अव्यवस्थित हो गये हैं। उनकी पुनर्व्यवस्था के लिए फिर एक सुनियोजित सामूहिक वाचना का प्रयत्न भी किया गया था परन्तु वह पूर्ण नहीं हो सका। अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हमारी वाचना अनुसन्धानपूर्ण, गवेषणापूर्ण, तटस्थ दृष्टि समन्वित तथा सपरिश्रम होगी तो वह अपने-आप सामूहिक हो जायेगी। इसी निर्णय के आधार पर हमारा यह आगम-वाचना का कार्य प्रारम्भ हुआ है।

हमारी इस वाचना के प्रमुख आचार्यश्री तुलसी हैं। वाचना का अर्थ अध्यापन है। हमारी इस प्रवृत्ति में अध्यापन कर्म के अनेक अंग हैं—पाठ का अनुसन्धान, भाषान्तरण, समीक्षात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अध्ययन आदि-आदि। इन सभी प्रवृत्तियों में आचार्यश्री का हमें सक्रिय योग, मार्ग-दर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त है। यही हमारा इस गुरुतर कार्य में प्रवृत्त होने का शक्ति-बीज है।

आचार्यश्री हमारी हर प्रवृत्ति में प्रकाश-दीप हैं। उनसे प्रकाश प्राप्त कर हम तमिस्र में भी अपना पथ खोज लेते हैं। उनके प्रति आभार प्रकट करना सामर्थ्य से परे है।

मुनि मीठालालजी, जो वर्तमान में संघ-मुक्त साधना कर रहे हैं, इसके अनुवाद में सहभागी रहे हैं।

अनुवाद, सम्पादन और प्रतिशोधन के कार्य में मुनि दुलहराजजी का अनवरत योग और श्रम रहा है।

'दशवैकालिक' और 'उत्तराध्ययन' ये दोनों मूल सूत्र हैं। जैन-परम्परा में इनका अध्ययन, वाचन और मनन बहुलता से होता है। भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर इनका अध्ययन और मनन अधिक मात्रा में हो, यह अपेक्षित है। इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर केवल अनुवाद की ग्रन्थमाला पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा रही है। इससे हिन्दी-भाषी पाठक बहुत लाभान्वित होंगे।

भगवान् महावीर की सर्वजनहिताय जनभाषा (प्राकृत) में प्रादुर्भूत वाणी को वर्तमान जनभाषा (हिन्दी) में शृंखलाकार प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है।

अणुव्रत विहार
नई दिल्ली-२

मुनि नथमल

स्व कथ्य

जैन आगमों में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने इनका बार-बार उल्लेख किया है। दिगम्बर-साहित्य में अंग-बाह्य के चौदह प्रकार बतलाए गए हैं, उनमें सातवाँ दशवैकालिक और आठवाँ उत्तराध्ययन है।

श्वेताम्बर-साहित्य में अंग बाह्य श्रुत के दो मुख्य विभाग हैं—

(१) कालिक और (२) उत्कालिक। कालिक सूत्रों की गणना में पहला स्थान उत्तराध्ययन का और उत्कालिक सूत्रों की गणना में पहला स्थान दशवैकालिक का है।

ये दोनों 'मूल' सूत्र हैं। इन्हें मूल सूत्र मानने के दो कारण हैं—

१ ये दोनों मुनि की जीवन चर्या के प्रारम्भ में मूलभूत सहायक बनते हैं तथा आगमों का अध्ययन इन्हीं के पठन से प्रारम्भ होता है।

२ मुनि के मूल गुणों—महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का इनमें निरूपण है।

'मूल-सूत्र' वर्ग की स्थापना विक्रम की १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई थी। इससे पूर्व इस विभाग की चर्चा प्राप्त नहीं होती।

दशवैकालिक

इस सूत्र में दस अध्ययन हैं और इसकी रचना विकाल-वेला में हुई थी, इसलिए इसका नाम दस+वैकालिक=दशवैकालिक रखा गया। यह निर्यूहण कृति है, स्वतंत्र नहीं। इसके कर्त्ता शय्यंभव श्रुतकेवली थे। उन्होंने चम्पा नगरी में वीर संवत् ७२ के आसपास इसका निर्यूहण अपने पुत्र शिष्य मनक के लिए किया।

इसमें दस अध्ययन और दो चूलिकाएँ हैं। इनमें ५१४ गाथाएँ और ३१ सूत्र हैं। पूरा विवरण इस प्रकार है —

अध्ययन		श्लोक	सूत्र	विषय
१.	द्रुमपुष्पिका	५		धर्म-प्रशंसा और माधुकरी-वृत्ति।
२.	श्रामण्यपूर्वक	११		संयम में धृति और उसकी साधना।
३.	क्षुल्लकाचार-कथा	१५		आचार और अनाचार का विवेक।
४.	धर्म-प्रज्ञप्ति या षड्जीवनिका	२८	२३	जीव-संयम तथा आत्म-संयम का विचार।
५.	पिण्डैषणा	१५०		गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा की शुद्धि।
६.	महाचार	६८		महाचार का निरूपण।
७.	वाक्यशुद्धि	५७		भाषा-विवेक।
८.	आचार-प्रणिधि	६३		आचार का प्रणिधान।
९.	विनय समाधि	६२	७	विनय का निरूपण।
१०.	सभिक्षु	२१		भिक्षु के स्वरूप का वर्णन

चूलिका

१.	रतिवाक्या	१८	१	संयम में अस्थिर होने पर पुनः स्थिरीकरण का उपदेश।
२.	विविक्तचर्या	१६		विविक्त-चर्या का उपदेश।

उत्तराध्ययन

इसमें दो शब्द हैं—'उत्तर' और 'अध्ययन'। निर्युक्तिकार के अनुसार ये अध्ययन आचारांग के उत्तरकाल में पढ़े जाते थे इसलिए इन्हें 'उत्तर अध्ययन, कहा गया। श्रुतकेवली शय्यभव के पश्चात् ये अध्ययन दशवैकालिक के उत्तरकाल में पढ़े जाने लगे, इसलिए ये 'उत्तर अध्ययन' ही बने रहे।

रचना-काल और कर्त्तृत्व

निर्युक्तिकार के अनुसार उत्तराध्ययन किसी एक कर्त्ता की कृति नहीं है।

इस सूत्र के अध्ययन कब और किसके द्वारा रचे गए, इसकी प्रामाणिक जानकारी के लिए साधन-सामग्री सुलभ नहीं है।

उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते

हैं कि उत्तराध्ययन के अध्ययन ई० पू० ६०० से ईसवी सन् ४००, लगभग हजार वर्ष की धार्मिक व दार्शनिक धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

कई विद्वान् ऐसा मानते हैं कि उत्तराध्ययन के पिछले अठारह अध्ययन प्राचीन हैं और उत्तरवर्ती अठारह अध्ययन अर्वाचीन किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए कोई पुष्ट साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं। यह सही है कि कई अध्ययन बहुत प्राचीन हैं और कई अर्वाचीन।

वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दी के बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने प्राचीन और अर्वाचीन अध्ययनों का संकलन कर उसे एकरूप दिया।

उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग में परिगणित होता है। इससे यह अनुमान लगता है कि इसके प्राचीन संस्करण का मुख्य भाग कथा-भाग था।

वर्तमान में प्राप्त उत्तराध्ययन में अनेक अनुयोगों का समावेश है। इसमें १४ अध्ययन धर्मकथात्मक (७, ८, ९, १२, १३, १४, १८ से २३, २५ से २७) छह अध्ययन उपदेशात्मक (१, ३, ४, ५, ६ और १०) नौ अध्ययन आचारात्मक (२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२ और ३५) तथा सात अध्ययन (२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४, ३६) सैद्धान्तिक हैं।

इन तथ्यों से यह फलित होता है कि यह संकलन-सूत्र है, एक-कर्तृक नहीं।

आकार और विषय वस्तु

इस सूत्र के ३६ अध्ययनों में १६३८ श्लोक तथा ८९ सूत्र हैं। प्रत्येक अध्ययन का विषय भिन्न भिन्न है। उसका विवरण इस प्रकार है—

	अध्ययन	श्लोक	सूत्र	विषय
१	विनय-श्रुत	४८		विनय का विधान, प्रकार और महत्त्व।
२	परीषह प्रविभक्ति	४६	३	श्रमण चर्या में होने वाले परीषहों का प्ररूपण।
३	चतुरंगीय	२०		चार दुर्लभ अंगों का आख्यान।
४	असंस्कृत	१३		जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण का प्रतिपादन।
५	अकाम-मरणीय	३२		मरण के प्रकार और स्वरूप विधान।

	अध्ययन	श्लोक	सूत्र	विषय
६.	क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय	१७		ग्रन्थ-त्याग का संक्षिप्त निरूपण।
७.	उरभ्रीय	३०		उरभ्र, काकिणी, आम्रफल, व्यवहार और सागर—पांच उदाहरण।
८.	कापिलीय	२०		संसार की असारता और ग्रन्थि-त्याग।
९.	नमि प्रव्रज्या	६२		इन्द्र और नमि राजर्षि का संवाद।
१०.	द्रुमपत्रक	३७		जीवन की अस्थिरता और आत्म-बोध।
११.	बहुश्रुत-पूजा	३२		बहुश्रुत व्यक्ति का महत्व-स्थापन।
१२.	हरिकेशीय	४७		जाति की अतात्त्विकता का संबोध।
१३.	चित्र-सम्भूति	३५		चित्र और सम्भूति का संवाद।
१४.	इषुकारीय	५३		ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति का भेद-दर्शन।
१५.	सभिक्षुक	१६		भिक्षु के लक्षणों का निरूपण।
१६.	ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान	१७	१३	ब्रह्मचर्य के दस समाधि-स्थानों का वर्णन।
१७.	पाप-श्रमणीय	२१		पाप-श्रमण के स्वरूप का निरूपण।
१८.	संजयीय	५३		जैन-शासन की परम्परा का संकलन।
१९.	मृगापुत्रीय	९८		श्रमण-चर्या का सांगोपांग दिग्दर्शन।
२०.	महानिर्ग्रन्थीय	६०		अनाथता और सनाथता।
२१	समुद्रपालीय	२४		वध्य चोर के दर्शन से सम्बोध।
२२.	रथनेमीय	४९		पुनरुत्थान।
२३.	केशि-गौतमीय	८९		केशि और गौतम का संवाद।
२४	प्रवचन-माता	२७		पांच समिति तथा तीन गुप्तियों का निरूपण।
२५.	यज्ञीय	४३		जयघोष और विजयघोष का संवाद।
२६.	सामाचारी	५२		संघीय जीवन की पद्धति।
२७.	खलुंकीय	१७		अविनीत की उद्दण्डता का चित्रण।
२८.	मोक्ष-मार्ग-गति	३६		मोक्ष के मार्गों का निरूपण।
२९.	सम्यक्त्व-पराक्रम		७३	साधना-मार्ग का निरूपण।
३०.	तपो-मार्ग-गति	३७		तपो-मार्ग के प्रकारों का निरूपण।
३१.	चरण-विधि	२१		चरण-विधि का निरूपण।

	अध्ययन	श्लोक सूत्र	विषय
३२	प्रमाद-स्थान	१११	प्रमाद के कारण और उनका निवारण
३३	कर्म-प्रकृति	२५	कर्म की प्रकृतियों का निरूपण।
३४	लेश्या-अध्ययन	६१	कर्म-लेश्या का विस्तार।
३५	अनगार मार्ग गति	२१	अनगार का स्फुट आचार।
३६	जीवाजीव-विभक्ति	२६८	जीव और अजीव के विभागों का निरूपण।

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन-सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए निम्न ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं—

१ दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि की भूमिका।
२ दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन।
३ उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन।

प्रस्तुत ग्रन्थ दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का हिन्दी संस्करण है। जो व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से आगमों का अनुशीलन करना चाहते हैं, उनके लिए यह संस्करण बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा इसी आशा के साथ।

आचार्य तुलसी

अणुव्रत विहार
२१० राउज एवेन्यू,
नई दिल्ली

विषय-वस्तु

दशवैकालिक

	पृष्ठ
१ द्रुमपुष्पिका	३
२ श्रामण्यपूर्वक	४
३ क्षुल्लकाचार-कथा	६
४ धर्म प्रज्ञप्ति या षड्जीवनिका	८
५. पिण्डैषणा	१७
६ महाचार	३२
७ वाक्यशुद्धि	३९
८ आचार-प्रणिधि	४५
९ विनय-समाधि	५१
१० सभिक्षु	६१
चूलिका	
१ रतिवाक्या	६५
२ विविक्तचर्या	६८

उत्तराध्ययन

१ विनय श्रुत	७२
२ परीषह-प्रविभक्ति	७७
३ चतुरंगीय	८१
४ असंस्कृत	८६
५. अकाम मरणीय	८८
६ क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय	९२
७ उरभ्रीय	९४
८ कापिलीय	९७
९ नमि प्रव्रज्या	१००
१० द्रुमपत्रक	१०५

पहला अध्ययन

द्रुमपुष्पिका

१ धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

२. जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किसी भी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है—

३ उसी प्रकार लोक में जो मुक्त (अपरिग्रही) श्रमण साधु हैं वे दान भक्त—दाता द्वारा दिये जानेवाले निर्दोष आहार—की एषणा में रत रहते हैं जैसे—भ्रमर पुष्पों में।

४ हम इस तरह से वृत्ति—भिक्षा—प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो। क्योंकि श्रमण यथाकृत (सहज रूप से बना) आहार लेते हैं, जैसे—भ्रमर पुष्पों से रस।

५. जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित हैं—किसी एक पर आश्रित नहीं, नाना पिंड में रत हैं, और जो दान्त हैं, वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दूसरा अध्ययन

श्रामण्यपूर्वक

१. वह कैसे श्रामण्य का पालन करेगा जो काम (विषय-राग) का निवारण नहीं करता, जो संकल्प के वशीभूत होकर पग-पग पर विषाद-ग्रस्त होता है ?

२. जो परवश (या अभावग्रस्त) होने के कारण वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन-आसनों का उपभोग नहीं करता वह त्यागी नहीं कहलाता ।

३. त्यागी वही कहलाता है जो कान्त (रमणीय) और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है ।

४. समदृष्टि पूर्वक विचरते हुए भी यदि कदाचित् मन (संयम से) बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि 'वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ" मुमुक्षु उसके प्रति होने वाले विषय-राग को दूर करे ।

५. अपने को तपा । सुकुमारता का त्याग कर । काम (विषय-वासना) का अतिक्रम कर । इससे दुःख अपने-आप अतिक्रांत होगा । द्वेष-भाव को छिन्न कर । राग-भाव को दूर कर । ऐसा करने से तू संसार (इहलोक और परलोक) में सुखी होगा ।

६. अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल, धूमकेतु—अग्नि—में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किये हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते ।

७. हे यशःकामिन् ! धिक्कार है तुझे । जो तू क्षणभंगुर जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है । इससे तो तेरा मरना श्रेय है ।

८. मैं भोजराज की पुत्री (राजीमती) हूँ और तू अंधकवृष्णि का पुत्र (रथनेमि) है । हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों । तू स्थिर मन होकर संयम का पालन कर ।

९. यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हड (जलीय वनस्पति) की तरह अस्थितात्मा हो जायेगा ।

१० संयमिनी (राजीमती) के इन सुभाषित वचनों को सुनकर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गए, जैसे अंकुश से हाथी स्थिर होता है।

११ सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं। वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुए।

—ऐसा मैं कहता हूं।

तीसरा अध्ययन

क्षुल्लिकाचार-कथा

१. जो सयम मे सुस्थितात्मा है, विप्रमुक्त हैं, त्राता हैं,—उन निर्ग्रन्थ महर्षियो के लिए ये (निम्नलिखित) अनाचीर्ण है (अग्राह्य हैं, असेव्य हैं अकरणीय) हैं।

२. औद्देशिक—निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया, क्रीतकृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया, नित्याग्र—आदर-पूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जानेवाला, अभिहृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया आहार आदि लेना। रात्रि-भक्त—रात्रि भोजन करना। स्नान—नहाना। गध—गंध सूंघना या गध द्रव्य का विलेपन करना। माल्य—माला पहनना। वीजन—पखा झलना।

३. सन्निधि—खाद्य वस्तु का सग्रह करना—रात-वासी रखना। गृहि-अमत्र—गृहस्थ के पात्र मे भोजन करना। राज-पिंड—मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना। किमिच्छक—कौन क्या चाहता है? यो पूछकर दिया जाने वाला राजकीय भोजन आदि लेना। सबाधन—अंग-मर्दन करना। दत-प्रधावन—दांत पखारना। सप्रच्छन—गृहस्थ को कुशल पूछना (सप्रोञ्छन—शरीर के अवयवो को पोछना)। देह-प्रलोकन—दर्पण आदि मे शरीर देखना।

४. अष्टापद—शतरज खेलना। नालिका—नलिका से पासा डाल कर जुआ खेलना। छत्र—विशेप प्रयोजन के विना छत्र धारण करना। चैकित्स्य—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना। उपानत—पैरो में जूते पहनना। ज्योति-समारम्भ—अग्नि जलाना।

५. शय्यातरपिण्ड—स्थान-दाता के घर से भिक्षा लेना। आसंदी—मञ्चिका, पर्यंक—पलग पर बैठना। गृहान्तर-निपद्या—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर मे बैठना। गात्र-उद्‌वर्तन—उबटन करना।

६. गृहि-वैयापृत्य—गृहस्थ को भोजन का सविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना। आजीव-वृत्तिता—जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन ले भिक्षा प्राप्त करना। तप्तानिर्वृ‌त-भोजित्व—अर्द्ध-पक्व सजीव वस्तु का उप-

भाग करना। आतुर-स्मरण—आतुर[1]-दशा में भुक्त भोगों का स्मरण करना।

७ अनिर्वृत मूलक—सजीव मूली, अनिर्वृत शृंगबेर—सजीव अदरक, अनिर्वृत इक्षुखण्ड—सजीव इक्षु-खण्ड, सचित्तकंद—सजीव कंद, सचित्तमूल—सजीव मूल, आमक फल—अपक्व फल और आमक बीज—अपक्व बीज लेना व खाना।

८ आमक सौवर्चल—अपक्व सौवर्चल नमक, सैंधव—अपक्व सैन्धव नमक, रुमा लवण—अपक्व रुमा नमक[2], सामुद्र—अपक्व समुद्र का नमक, पांशु-क्षार—अपक्व ऊसर-भूमि का नमक और काल-लवण—अपक्व कृष्ण-नमक—लेना व खाना।

९ धूम-नेत्र—धूम-पान की नलिका रखना। वमन—रोग की संभावना से बचने के लिए, रूप बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना। बस्तिकर्म—अपान-मार्ग से तेल आदि चढ़ाना और विरेचन करना। अंजन—आंखों में अंजन आंजना। दंतवण—दांतों को दतौन से घिसना। गात्र-अभ्यंग—शरीर के तैल-मर्दन करना। विभूषण—शरीर को अलंकृत करना।

१० जो संयम में लीन और वायु की तरह मुक्त विहारी महर्षि निर्ग्रन्थ हैं उनके लिए ये सब अनाचीर्ण हैं।

११ पांच आस्रवों का निरोध करनेवाले, तीन गुप्तियों से गुप्त, छह प्रकार के जीवों के प्रति संयत, पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले, धीर निर्ग्रन्थ ऋजुदर्शी होते हैं।

१२ सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं, और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं—एक स्थान में रहते हैं।

१३ परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले, धुत-मोह (अज्ञान को प्रकंपित करने वाले) जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखों के नाश के लिए पराक्रम करते हैं।

१४ दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कई देवलोक जाते हैं और कई नीरज (कर्म रहित) हो सिद्ध होते हैं।

१५ स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ संयम और तप द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का क्षय कर, सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर परिनिर्वृत—मुक्त होते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूं।

---

१ रोग, क्षुधा, भय आदि से पीड़ित।

२ एक प्रकार का खनिज नमक।

चौथा अध्ययन

षड्जीवनिका

१. आयुष्मन् ! मैंने सुना है उन भगवान् ने इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ प्रवचन में निश्चय ही षड्जीवनिका नामक अध्ययन काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है। इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिये श्रेय है।

२. वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन कौन-सा है जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है ?

३. वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है—वह है जैसे—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तैजस्-कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक।

४. शस्त्र-परिणति से पूर्व पृथ्वी चित्तवती (सजीव) कही गयी है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली है।

५. शस्त्र-परिणति से पूर्व अप् चित्तवान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है।

६. शस्त्र-परिणति से पूर्व तेजस् चित्तवान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है।

७. शस्त्र-परिणति से पूर्व वायु चित्तवान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है।

८. शस्त्र-परिणति से पूर्व वनस्पति चित्तवती (सजीव) कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली है। उसके प्रकार ये हैं—अग्र-बीज, मूल-बीज, पर्व-बीज, स्कन्ध-बीज, बीज-रुह, सम्मूर्च्छिम, तृण और लता।

शस्त्र-परिणति से पूर्व बीजपर्यन्त (मूल से लेकर बीज तक) वनस्पति-कायिक चित्तवान् कहे गए हैं। वे अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव

के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाले हैं।

९ और ये जो अनेक बहुत त्रस प्राणी हैं जैसे—अण्डज,[1] पोतज,[2] जरायुज,[3] रसज,[4] संस्वेदज,[5] सम्मूर्च्छनज,[6] उद्भिज[7] और औपपातिक[8]—वे छठे जीव-निकाय में आते हैं।

जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएँ हैं और जो आगति एवं गति के विज्ञाता हैं, वे त्रस हैं।

जो कीट पतंग, कुंथु, पिपीलिका, सब दो इन्द्रिय वाले जीव, सब तीन इन्द्रिय वाले जीव, सब चार इन्द्रिय वाले जीव, सब पाँच इन्द्रिय वाले जीव, सब तिर्यक्-योनिक सब नैरयिक, सब मनुष्य, सब देव और सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं—

यह छठा जीवनिकाय त्रसकाय कहलाता है।

१० इन छह जीव निकायों के प्रति स्वयं दंड-समारम्भ[9] नहीं करना चाहिए, दूसरों से दण्ड-समारम्भ नहीं कराना चाहिए और दण्ड-समारम्भ करने वालों का अनुमोदन नहीं करना चाहिए, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से काया से— न करूँगा न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

---

१ अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि।

२ पोतज—जो शिशु रूप में उत्पन्न होते हैं जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं होता—हाथी आदि।

३ जरायुज—जन्म के समय जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं—गाय भैंस, मनुष्य आदि।

४ रसज—छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले जीव।

५ संस्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव।

६ सम्मूर्च्छनज—बाहरी वातावरण के संयोग से उत्पन्न होने वाले शलभ, चींटी आदि। यह मातृ पितृहीन प्रजनन है।

७ उद्भिज—पृथ्वी को भेद कर उत्पन्न होने वाले पतंग, खञ्जरीट आदि।

८ औपपातिक—अकस्मात् उत्पन्न होने वाले देवता और नारकीय जीव।

९ दंड का अर्थ है—मन, वचन और काया की दुःखजनक या परिताप जनक प्रवृत्ति और समारम्भ का अर्थ है—करना।

भंते ! मैं अतीत में किये दण्ड-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा[1] करता हूँ, गर्हा[2] करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

११. भंते ! पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरमण होता है।

भंते ! मैं सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर जो भी प्राणी है उनके प्राणों का अतिपात मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से नहीं कराऊँगा और अतिपात करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से— मन से, वचन से, काया से— न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं पहले महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व प्राणातिपात की विरति होती है।

१२. भंते ! इसके पश्चात् दूसरे महाव्रत में मृषावाद की विरति होती है।

भंते ! मैं सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध से या लोभ से, भय से या हँसी से, मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूँगा, दूसरों से असत्य नहीं बुलवाऊँगा और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के मृषावाद से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं दूसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व मृषावाद की विरति होती है।

१३. भंते ! इसके पश्चात् तीसरे महाव्रत में अदत्तादान की विरति होती है।

भंते ! मैं सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में, या अरण्य में— कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी अदत्त-वस्तु का मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरों से अदत्त-वस्तु का ग्रहण नहीं कराऊँगा और अदत्त-वस्तु ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं

---

१. निन्दा—अपने आप किया जाने वाला आत्मालोचन।

२. गर्हा—दूसरों के समक्ष किया जानेवाला आत्मालोचन।

करूँगा,—यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं तीसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व अदत्तादान की विरति होती है।

१४ भंते ! इसके पश्चात् चौथे महाव्रत में मैथुन की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मैं स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरों से मैथुन सेवन नहीं कराऊँगा और मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा—यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से वचन से काया से—न करूँगा न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के मैथुन-सेवन से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं चौथे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व मैथुन की विरति होती है।

१५. भंते ! इसके पश्चात् पाँचवें महाव्रत में परिग्रह की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—किसी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से परिग्रह का ग्रहण नहीं कराऊँगा और परिग्रह का ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के परिग्रह से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं पाँचवें महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व परिग्रह की विरति होती है।

१६ भंते ! इसके पश्चात् छठे व्रत में रात्रि भोजन की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। अशन,

पान, खाद्य और स्वाद्य—किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊँगा, दूसरो को नही खिलाऊँगा और खाने वालों का अनुमोदन भी नही करूंगा। यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग मे—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! मैं अतीत के रात्रि-भोजन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते! मैं छठे व्रत मे उपस्थित हुआ हू। इसमें सर्व रात्रिभोजन की विरति होती है।

१७. मैं इन पांच महाव्रतो और रात्रि-भोजन-विरति रूप छठे व्रत को आत्महित के लिए अंगीकार कर विहार करता हूँ।

१८. संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात मे, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् मे—पृथ्वी, भित्ति (नदी, पर्वत आदि की दरार) शिला, ढेले, सचित्त-रज से संसृष्ट काय अथवा सचित्त-रज से संसृष्ट वस्त्र या हाथ, पांव, काष्ठ, खपाच, अँगुली, शलाका अथवा शलाका-समूह से न आलेखन करे, न विलेखन करे, न घट्टन करे और न भेदन करे, दूसरे से न आलेखन कराए, न विलेखन कराए, न घट्टन कराए और न भेदन कराए। आलेखन, विलेखन, घट्टन या भेदन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

भंते! मैं अतीत के पृथ्वी समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

१९. संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन मे या रात मे, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—उदक, ओस, हिम, धूंअर, ओले, भूमि को भेद कर निकले हुए जल बिन्दु, शुद्ध उदक, (आन्तरिक्ष जल) जल से भीगे शरीर अथवा जल से भीगे वस्त्र, जल से स्निग्ध शरीर अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र का न आमर्श करे, न संस्पर्श करे, न आपीडन करे, न प्रपीडन करे, न आस्फोटन करे, न प्रस्फोटन करे, न आतापन करे और न प्रतापन करे, दूसरो से न आमर्श कराये, न संस्पर्श कराए, न आपीडन कराए, न प्रपीडन कराए, न आस्फोटन कराए, न प्रस्फोटन कराए, न आतापन कराए, न प्रतापन कराए। आमर्श, संस्पर्श, आपीडन, प्रपीडन, आस्फोटन, प्रस्फोटन, आतापन या प्रतापन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन

कराए, तीन योग से —मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के जल-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२० संयत विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—अग्नि, अंगारे, मुर्मुर, अर्चि, ज्वाला, अलात, (अधजली लकड़ी) शुद्ध (काष्ठ रहित) अग्नि, अथवा उल्का का न उत्सेचन करे, न घट्टन करे, न उज्ज्वालन करे और न निर्वाण करे (न बुझाए),न दूसरा से उत्सेचन कराए, न घट्टन कराए, न उज्ज्वालन कराए और न निर्वाण कराए। उत्सेचन घट्टन, उज्ज्वालन या निर्वाण करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से —मन से वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भन्ते ! मैं अतीत के अग्नि-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२१ संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—चामर, पंखे, वीजन पत्र, शाखा शाखा के टुकडे मोर-पंख मोर-पिच्छी, वस्त्र, वस्त्र के पल्ले हाथ या मुँह से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों को फूंक न दे, हवा न करे, दूसरा से फूंक न दिलाए हवा न कराए फूंक देने वाले या हवा करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से —मन से, वचन से, काया से—न करूँगा न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के वायु-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२२ संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते एकान्त में या परिषद् में—बीजों पर, बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर स्फुटित बीजों पर, स्फुटित बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर, पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर स्थित वस्तुओं पर, हरित पर हरित पर रखी हुई वस्तुओं पर, छिन्न वनस्पति के अंगों पर छिन्न वनस्पति के अंगों पर रखी हुई वस्तुओं पर,

सचित्त कोल—अंडों एवं काष्ठ-कीट से युक्त काष्ठ आदि पर न चले, न खड़ा रहे, न बैठे, न सोये, दूसरों को न चलाए, न खड़ा करे, न बैठाए, न सुलाए; चलने, खड़ा रहने, बैठने या सोने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के वनस्पति-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२३. संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—कीट, पतंग, कुन्थु या पिपीलिका हाथ, पैर, बाहु, ऊरु, उदर, सिर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, गोच्छग, उन्दक (स्थंडिल), दण्डक, पीठ, फलक, शय्या या संस्तारक पर तथा उसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर चढ़ जाए तो सावधानी पूर्वक धीमे-धीमे प्रतिलेखन कर, प्रमार्जन कर उन्हें वहाँ से हटा एकान्त में रख दे किन्तु उनका संघात न करे—आपस में एक दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुँचे वैसे न रखे।

१. अयतनापूर्वक चलने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

२. अयतनापूर्वक खड़े होने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

३. अयतनापूर्वक बैठने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

४. अयतनापूर्वक सोने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

५. अयतनापूर्वक भोजन करने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

६. अयतनापूर्वक बोलने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

७. कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो।

८. यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खड़ा होने, यतनापूर्वक बैठने, यतना-

पूर्वक सोने, यतनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलने वाला पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता।

९ जो सब जीवों को आत्मवत मानता है, सब जीवों को सम्यक्‌दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है उसके पाप कर्म का बन्धन नहीं होता।

१० पहले ज्ञान फिर दया—इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं। अज्ञानी क्या करेगा? वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप?

११ जीव सुनकर कल्याण को जानता है और सुनकर ही पाप को जानता है। कल्याण और पाप सुनकर ही जाने जाते हैं। वह उनमें जो श्रेय है उसीका आचरण करे।

१२ जो जीवों को भी नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता वह जीव और अजीव को न जानने वाला संयम को कैसे जानेगा?

१३ जो जीवों को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है वह जीव और अजीव दोनों को जानने वाला ही संयम को जान सकेगा।

१४ जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनों को जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है।

१५ जब मनुष्य सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है तब वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है।

१६ जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है तब जो भी देवों और मनुष्यों के भोग हैं उनसे विरक्त हो जाता है।

१७ जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों को त्याग देता है।

१८ जब मनुष्य आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों को त्याग देता है तब वह मुंड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है।

१९ जब मनुष्य मुंड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है तब वह उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है।

२० जब मनुष्य उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है तब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म रज को प्रकम्पित कर देता है।

२१ जब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म रज को प्रकम्पित कर देता है तब वह सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

२२. जब वह सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है।

२३. जब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है तब वह योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है।

२४. जब वह योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है।

२५. जब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है तब वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है।

२६. जो श्रमण सुख का रसिक, सात के लिए आकुल, अकाल में सोने वाला और हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला होता है उसके लिए सुगति दुर्लभ होती है।

२७. जो श्रमण तपो-गुण से प्रधान, ऋजुमति, शान्ति तथा संयम में रत और परिषहों को जीतने वाला होता है उसके लिए सुगति सुलभ होती है।

[जिन्हें तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त होते हैं—भले ही वे पिछली अवस्था में प्रव्रजित हुए हों।]

२८. दुर्लभ श्रमण-भाव को प्राप्त कर सम्यक्-दृष्टि और सतत-सावधान श्रमण इस षड्जीवनिका की कर्मणा—मन, वचन और काया से—विराधना न करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पाँचवाँ अध्ययन

पिण्डैषणा

(पहला उद्देशक)

१ भिक्षा का काल प्राप्त होने पर मुनि अनाकुल और अमूर्च्छित रहता हुआ इस—आगे कहे जाने वाले क्रम-योग से भक्त-पान की गवेषणा करे।

२. गाँव या नगर में गोचराग्र[1] के लिए निकला हुआ वह मुनि अनुद्विग्न और अव्याक्षिप्त चित्त से धीमे-धीमे चले।

३ आगे युग-प्रमाण भूमि को देखता हुआ और बीज, हरियाली, प्राणी, जल तथा सजीव मिट्टी को टालता हुआ चले।

४ दूसरे मार्ग के होते हुए गड्ढे, ऊबड़-खाबड़ भू भाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डण्ठल और पंकिल मार्ग को टाले तथा संक्रम[2] के ऊपर से न जाए।

५. वहाँ गिरने या लड़खड़ा जाने से वह संयमी प्राणी, भूत—त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करता है।

६ इसलिए सुसमाहित संयमी दूसरे मार्ग के होते हुए उस मार्ग से न जाए। यदि दूसरा मार्ग न हो तो यतनापूर्वक जाए।

७ संयमी मुनि सचित्त रज से भरे हुए पैरों से कोयले, राख, भूसे और गोबर के ढेर के ऊपर होकर न जाए।

८ वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो और मार्ग में तिर्यक संपातिम[3] जीव छा रहे हों तो भिक्षा के लिए न जाए।

९. ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाये।

---

१ विशुद्ध भिक्षाचर्या।

२ जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण रचित पुल।

३ जो जीव तिरछे उड़ते हैं उन्हें तिर्यक् संपातिम जीव कहते हैं। जैसे—पतंग आदि।

२१ जहाँ कोष्ठक में या कोष्ठक-द्वार पर पुष्प, बीजादि बिखरे हों वहाँ मुनि न जाए। कोष्ठक को तत्काल का लीपा और गीला देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे।

२२. मुनि भेड़, बच्चे, कुत्ते और बछड़े को लाँघ कर या हटाकर कोठे में प्रवेश न करे।

२३ मुनि अनासक्त दृष्टि से देखे। अति दूर न देखे। उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे। भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे वापस चला जाए।

२४ गोचराग्र के लिए घरों में प्रविष्ट मुनि अति भूमि[1] में न जाए, कुल-भूमि[2] को जानकर मित-भूमि[3] में प्रवेश करे।

२५ विचक्षण मुनि मित भूमि में ही उचित भू भाग का प्रतिलेखन करे। जहाँ से स्नान और शौच का स्थान दिखाई पड़े उस भूमि भाग का परिवर्जन करे।

२६ सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि उदक और मिट्टी लाने के मार्ग तथा बीज और हरियाली का वर्जन कर खड़ा रहे।

२७ वहाँ खड़े हुए उस मुनि के लिए कोई पान भोजन लाए तो वह अकल्पिक न ले। कल्पिक ग्रहण करे।

२८. यदि साधु के पास भोजन लाती हुई गृहिणी उसे गिराए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२९. प्राणी, बीज और हरियाली को कुचलती हुई स्त्री असंयमकरी होती है—यह जान मुनि उसके पास से भक्त-पान न ले।

३० एक बर्तन में से दूसरे बर्तन में निकाल कर, सचित्त वस्तु पर रख कर, सचित्त को हिला कर, इसी तरह श्रमण के लिए पात्रस्थ सचित्त जल को हिला कर—

३१ जल में अवगाहन कर, आँगन में ढुले हुए जल को चालित कर आहार-पानी लाए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

---

१ वर्जित स्थान।
२ कुल का मर्यादित स्थान।
३ मर्यादित स्थान।

३२. पुराकर्म[1]-कृत हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

३३. इसी प्रकार जल से आर्द्र[2], सस्निग्ध[3], सचित्त रज-कण, मृत्तिका, क्षार, हरिताल, हिंगुल, मैनशिल, अञ्जन, नमक—

३४. गैरिक[4], वर्णिक[5], श्वेतिका[6], सौराष्ट्रिका[7], तत्काल पीसे हुए आटे या कच्चे चावलों के आटे, अनाज के भूसे या छिलके और फल के सूक्ष्म खण्ड से सने हुए (हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री) को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता तथा संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना चाहिए।

३५. जहाँ पश्चात् कर्म[8] का प्रसंग हो वहाँ असंसृष्ट (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार मुनि न ले।

३६. संसृष्ट (भक्त-पान से लिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार, जो वहाँ एषणीय हो, मुनि ले ले।

३७. दो स्वामी या भोक्ता हों और वहाँ एक निमन्त्रित करे (देना चाहे) तो मुनि वह दिया जाने वाला आहार न ले। दूसरे के अभिप्राय को देखे—उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो ले ले।

३८. दो स्वामी या भोक्ता हों और दोनों ही निमन्त्रित करें तो मुनि उस दीयमान आहार को, यदि वह एषणीय हो तो, ले ले।

३९. गर्भवती स्त्री के लिए बना हुआ विविध प्रकार का भक्त-पान वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे; खाने के बाद बचा हो वह ले ले।

---

१. भिक्षा देने से पूर्व उसके निमित्त से हाथ, कड़छी आदि सचित्त पानी से धोना या अन्य किसी प्रकार की हिंसा करना।
२. जिससे जल की बूँदें टपक रही हों।
३. जल से गीला-सा।
४. लाल मिट्टी।
५. पीली मिट्टी।
६. खड़िया मिट्टी।
७. गोपीचन्दन। स्वर्ण पर चमक देने के लिए प्रयुक्त मिट्टी।
८. भिक्षा देने के पश्चात् खरड़े हुए हाथ, कड़छी आदि को सचित्त जल से धोना या अन्य किसी प्रकार की हिंसा करना।

४० काल मासवती[1] गर्भिणी खड़ी हो और श्रमण को भिक्षा देने के लिए कदाचित् बैठ जाए अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाए तो—

४१. उसके द्वारा दिया जाने वाला भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्प्य (अग्राह्य) होता है। इसलिए मुनि देती हुई स्त्री का प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४२ बालक या बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड़ भक्त-पान लाए—

४३ वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए मुनि देती हुई स्त्री का प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४४ जो भक्त-पान कल्प और अकल्प की दृष्टि से शंकायुक्त हो, उसे देती हुई स्त्री का मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४५ जल-कुम्भ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढ़ा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यों से पिहित (ढँके, लिपे और मूँदे हुए)—

४६ पात्र का श्रमण के लिए मुँह खोल कर, आहार देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४७ यह अशन, पानक[2], खाद्य और स्वाद्य दानार्थ तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो—

४८ वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४९ यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुण्यार्थ[3] तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो—

५० वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री का प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५१ यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य वनीपकों—भिखारियों—के निमित्त तैयार किया हुआ है मुनि यह जान जाए या सुन ले तो—

---

१ जिसके गर्भ का प्रसूतिमास या नवाँ मास चल रहा हो उसे काल-मासवती (काल प्राप्त गर्भवती) कहा जाता है।

२ द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न जल।

३ 'पुण्य होगा' इस भावना से निष्पन्न भक्त-पान।

५२. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे— इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५३. वह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य श्रमणों के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो—

५४. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे— इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५५. औद्देशिक[1], क्रीतकृत[2], पूतिकर्म[3], आहृत[4], अध्यवतर[5], प्रामित्य[6] और मिश्रजात[7] आहार मुनि न ले।

५६. संयमी मुनि आहार का उद्गम पूछे—किसलिए किया है? किसने किया है?—इस प्रकार पूछे। दाता से प्रश्न का उत्तर सुनकर निःशंकित और शुद्ध आहार ले।

५७. यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुष्प, बीज और हरियाली से उन्मिश्र (मिला हुआ) हो तो—

५८. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे— इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५९. यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पानी, उत्तिंग[8] और पनक[9] पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो तो—

६०. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे— इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६१. यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो और उसका (अग्नि का) स्पर्श कर दे तो—

---

१. देखें—३/२
२. देखें—३/२
३. आधाकर्म—मुनि के निमित्त बने हुए आहार से मिश्रित।
४. देखें—३/२
५. भोजन पकाने का आरम्भ अपने लिए करने के पश्चात् निर्ग्रन्थ के लिए अधिक बनाना।
६. निर्ग्रन्थ को देने के लिए कोई वस्तु दूसरों से उधार लेना।
७. अपने लिए या साधुओं के लिए सम्मिलित रूप से भोजन पकाना।
८. कीटिकानगर।
९. फफूंदी।

६२ वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री का प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६३ इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डाल कर, (चूल्हे से) ईंधन निकाल कर, (चूल्हे को) सुलगा कर, प्रदीप्त कर, बुझा कर, अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर, पानी का छींटा देकर, पात्र को टेढ़ा कर, उतार कर, दे तो—

६४ वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६५ यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो—

६६ सर्वेन्द्रिय समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असंयम देखा है।

६७ श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक और पीढ़े को ऊँचा कर, मचान[1], स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ़ भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)।

६८ निसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है, हाथ, पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दब कर पृथ्वी के तथा पृथ्वी-आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है।

६९. अतः ऐसे महादोषों को जानकर संयमी महर्षि मालापहृत[2] भिक्षा नहीं लेते।

७० मुनि अपक्व कन्द, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक, घीया, अदरक न ले।

---

१ चार लट्ठों को बाँधकर बनाया हुआ ऊँचा स्थान, जहाँ ओसन तथा जीव-जन्तुओं से बचाने के लिए भोजन रखे जाते हैं।

२ यह उद्गम का तेरहवाँ दोष है। इसके तीन प्रकार हैं—
(१) ऊर्ध्व मालापहृत—ऊपर से उतारा हुआ।
(२) अधोमालापहृत—भूमिगृह (तलघर) से लाया हुआ।
(३) तिर्यग् मालापहृत—ऊँडे बर्तन या कोठे आदि में से झुककर निकाला हुआ।

७१. इसी प्रकार सत्तू, बेर का चूर्ण, तिल-पपड़ी, गीला गुड़ (राब), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी—

७२. जो बेचने के लिए दुकान में रखी हों, परन्तु न बिकी हों, रज से स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री का प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७३. बहुत अस्थि वाले पुद्गल[1] बहुत काँटे वाले अनिमिष[2], आस्थिक[3], तेन्दु[4] और बेल के फल, गंडेरी और फली—

७४. जिनमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक हो—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७५. इसी प्रकार उच्चावच पानी या गुड़ के घड़े का धोवन, आटे का धोवन, चावल का धोवन, जो अधुनाधौत (तत्काल का धोवन) हो, उसे मुनि न ले।

७६. अपनी मति या दर्शन से, पूछ कर या सुन कर जान ले—यह धोवन चिरकाल का है, और निःशंकित हो जाए—

७७. तो उसे जीव-रहित और परिणत जानकर संयमी मुनि ले ले। यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नहीं—ऐसा सन्देह हो तो चख कर लेने का निश्चय करे।

७८. दाता से कहे—'चखने के लिए थोड़ा-सा जल मेरे हाथ में दो। बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ जल लेकर मैं क्या करूँगा?'

७९. यदि वह जल बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ हो तो देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का जल मैं नहीं ले सकता।

८०. यदि वह पानी अनिच्छा या असावधानी से लिया गया हो तो उसे न स्वयं पीए और न दूसरे साधुओं को दे।

८१. परन्तु एकान्त में जा, अचित्त भूमि को देख, यतनापूर्वक उसे

---

१. बहुत बीजों वाला फल।

२. बहुत काँटों वाला फल।

३. आस्थिक वृक्ष का फल।

३. तेन्दू वृक्ष का फल। इस वृक्ष की लकड़ी को आबनूस कहते हैं।

परिस्थापित[1] करे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आ कर प्रतिक्रमण[2] करे।

८२ गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि कदाचित् आहार करना चाहे तो प्रासुक कोष्ठक या भित्तिमूल[3] को देखकर—

८३ उसके स्वामी की अनुज्ञा लेकर छाए हुए एवं संवृत[4] स्थान में बैठे, हस्तक[5] से शरीर का प्रमार्जन कर मेधावी संयति वहाँ भोजन करे।

८४ वहाँ भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, काँटा, तिनका, काठ का टुकड़ा, कंकड़ या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकले तो—

८५ उसे उठा कर न फेंके, मुँह से न थूके किन्तु हाथ में ले कर एकान्त में चला जाए।

८६ एकान्त में जा अचित्त भूमि को देख, यतनापूर्वक उसे परिस्थापित करे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आ कर प्रतिक्रमण करे।

८७ कदाचित् भिक्षु शय्या (उपाश्रय) में आकर भोजन करना चाहे तो भिक्षा सहित वहाँ आकर स्थान की प्रतिलेखना करे।

८८ उसके पश्चात् विनयपूर्वक उपाश्रय में प्रवेश कर गुरु के समीप उपस्थित हो ऐर्यापथिकी सूत्र को पढ़कर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे।

८९ आने-जाने और भक्त-पान लेने में लगे समस्त अतिचारों को यथाक्रम याद कर—

९० ऋजु-प्रज्ञ अनुद्विग्न संयति व्याक्षेप रहित चित्त से गुरु के समीप आलोचना करे। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो उसी प्रकार से गुरु को कहे।

९१ सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो अथवा पहले पीछे की हो (आलोचना का क्रम भंग हुआ हो) तो उसका फिर प्रतिक्रमण करे शरीर को स्थिर बना यह चिन्तन करे—

---

१ अयोग्य या सदोष आहार आदि वस्तु आ जाने पर एकान्त और निर्जीव भूमि में उसका परित्याग।

२ जान-अनजान में हुई भूलों की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला प्रायश्चित्त।

३ दो घरों का मध्यवर्ती भाग कुटीर या भीत।

४ पार्श्व भाग से ढका हुआ।

५ वस्त्र-खण्ड।

९२. ओह ! भगवान् ने साधुओं के मोक्ष-साधना के हेतु-भूत संयमी-शरीर की धारणा के लिए निरवद्य-वृत्ति[1] का उपदेश किया है।

९३. इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मंत्र के द्वारा पूर्ण कर तीर्थंकरों की स्तुति करे, फिर स्वाध्याय की प्रस्थापना (प्रारम्भ) करे, फिर क्षण-भर विश्राम करे।

९४. विश्राम करता हुआ लाभार्थी (मोक्षार्थी) मुनि इस हितकर अर्थ का चिन्तन करे – यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करें तो मैं निहाल हो जाऊँ–मानूं कि उन्होंने मुझे भवसागर से तार दिया।

९५. वह प्रेमपूर्वक साधुओं को यथाक्रम निमन्त्रण दे। उन निमन्त्रित साधुओं में से यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उनके साथ भोजन करे।

९६. यदि कोई साधु न चाहे तो अकेला ही मुनि पात्र में यतनापूर्वक नीचे नहीं डालता हुआ भोजन करे।

९७. गृहस्थ के लिए बना हुआ—तीता (तिक्त) या कडुवा, कसैला या खट्टा, मीठा या नमकीन जो भी आहार उपलब्ध हो उसे संयमी मुनि मधु-घृत की भांति खाए।

९८. मुधाजीवी (निष्काम जीवी) मुनि अरस या विरस, व्यंजन सहित या व्यंजन रहित, आर्द्र या शुष्क, मन्थु[2] और कुल्माष[3] का जो भोजन—

९९. विधिपूर्वक प्राप्त हो उसकी निन्दा न करे। निर्दोष आहार अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है। इसलिए उस मुधालब्ध (निष्काम प्राप्त) और दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले।

१००. मुधादायी (निष्काम दाता) दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. विशुद्ध जीवनचर्या।
२. बेर आदि का चूर्ण।
३. अधपके जौ, मूंग आदि।

पिण्डैषणा

(दूसरा उद्देशक)

१. संयमी मुनि लेप लगा रहे तब तक पात्र को पोंछ कर सब खा ले, शेष न छोड़े, भले फिर वह दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त।

२ उपाश्रय या स्वाध्याय-भूमि में अथवा गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि (मठ, कोठे आदि में) अपर्याप्त खा कर यदि न रह सके तो—

३ क्षुधा आदि का कारण उत्पन्न होने पर पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे।

४ भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्ज कर जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे।

५ भिक्षो! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं करते इसीलिए तुम अपने-आप को क्षान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो।

६ भिक्षु समय होने पर भिक्षा के लिए जाए, पुरुषकार (श्रम) करे, भिक्षा न मिलने पर शोक न करे। सहज तप ही सही—यों मान भूख को सहन करे।

७ इसी प्रकार नाना प्रकार के प्राणी, चोग आदि भोजन के निमित्त एकत्रित हों, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें त्रास न देता हुआ यतनापूर्वक जाए।

८ गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी कहीं न बैठे और खड़ा रहकर भी कथा का प्रबन्ध न करे—विस्तार न करे।

९ गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी आगल, परिघ[1], द्वार या किवाड़ का सहारा लेकर खड़ा न रहे।

१०-११ भक्त या पान के लिए उपसंक्रमण करते हुए (घर में जाते हुए) श्रमण, ब्राह्मण, कृपण[2] या वनीपक को लांघकर संयमी मुनि गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे। गृहस्वामी और श्रमण आदि की आंखों के सामने खड़ा भी न रहे। किन्तु एकान्त में जा कर खड़ा हो जाए।

---

१ नगर-द्वार की आगल।

२ पिण्डोलग। परदत्त आहार से जीवन निर्वाह करने वाला।

१२. भिक्षाचरों को लांघ कर घर में प्रवेश करने पर, वनीपक या गृहस्वामी को अथवा दोनों को अप्रेम हो सकता है अथवा उससे प्रवचन (धर्मशासन) की लघुता होती है।

१३. गृहस्वामी द्वारा प्रतिषेध करने या दान दे देने पर, वहाँ से उनके वापस चले जाने के पश्चात् संयमी मुनि भक्त-पान के लिए प्रवेश करे।

१४. कोई उत्पल,[1] पद्म,[2] कुमुद,[3] मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन कर भिक्षा दे

१५. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१६. कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प को कुचलकर भिक्षा दे

१७. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१८. कमलकन्द[4], पलाशकन्द[5], कुमुद-नाल, उत्पल-नाल, पद्म-नाल[6], सरसों की नाल, इक्षु-खण्ड न ले।

१९. वृक्ष, तृण या दूसरी हरियाली की कच्ची नई कोंपल न ले।

२०. कच्ची और एक बार भूनी हुई फली देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२१. इसी प्रकार जो उबाला हुआ न हो वह बेर, वंश-करीर[7], काश्यप-नालिका[8] तथा अपक्व तिल-पपड़ी और कदम्ब-फल न ले।

२२. इसी प्रकार चावल का पिष्ट, पूरा न उबला हुआ गर्म जल, तिल का पिष्ट, पोई-शाक और सरसों की खली—अपक्व न ले।

---

१. लाल कमल।

२. नील कमल।

३. श्वेत कमल।

४. कमल की जड़।

५. विदारिका, जीवन्ती।

६. यह पद्मिनी के कन्द से उत्पन्न होती है। इसका आकार हाथी-दाँत जैसा होता है।

७. बाँस का अंकुर।

८. श्रीपर्णी फल, कभारा।

२३ अपक्व और शस्त्र से अपरिणत कैथ, बिजौरा, मूला और मूले के गोल टुकड़े का मन से भी न चाहे।

२४ इसी प्रकार अपक्व फल-चूर्ण, बीज-चूर्ण, बहेड़ा और प्रियाल-फल[1] न ले।

२५ भिक्षु सदा समुदान भिक्षा करे, उच्च और नीच सभी कुलों में जाए, नीच कुल को छोड़कर उच्च कुल में न जाए।

२६ भोजन में अमूर्च्छित, मात्रा को जानने वाला, एषणारत, पण्डित मुनि अदीन भाव से वृत्ति (भिक्षा) की एषणा करे और भिक्षा न मिलने पर विषाद न करे।

२७ गृहस्थ के घर में नाना प्रकार का प्रचुर खाद्य-स्वाद्य होता है, किन्तु न देने पर पण्डित मुनि कोप न करे। क्योंकि उसकी अपनी इच्छा है, दे या न दे।

२८ शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान प्रत्यक्ष सामने दीख रहे हैं किन्तु गृहस्थ उन्हें नहीं देना चाहता तो भी संयमी मुनि न देने वाले पर कोप न करे।

२९ मुनि स्त्री या पुरुष, बाल या वृद्ध की वन्दना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे और न उसे परुष वचन बोले।

३० जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष न लाए। इस प्रकार भिक्षा का अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्बाध भाव से टिकता है।

३१ कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पा कर उसे, आचार्य आदि को दिखाने पर वह स्वयं न ले ले, इस लोभ से छिपा लेता है—

३२ अपने स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला वह रस-लोलुप मुनि बहुत पाप करता है। वह किसी वस्तु से सन्तुष्ट नहीं होता और निर्वाण को नहीं पाता।

३३ कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के पान और भोजन पाकर कहीं एकान्त में बैठ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ खा लेता है, विवर्ण और विरस को स्थान पर लाता है—

३४ ये श्रमण मुझे यों जानें कि यह मुनि बड़ा मोक्षार्थी है, सन्तुष्ट है

---

१ चिरौंजी।

प्रान्त (असार) आहार का सेवन करता है, रुक्षवृत्ति और जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट होने वाला है।

३५. वह पूजा का अर्थी, यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करने वाला मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया-शल्य[1] का आचरण करता है।

३६. अपने सयम का सरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक[2] या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी से न पीए।

३७. जो मुनि—मुझे कोई नही जानता (यों सोचता हुआ) एकान्त में स्तेन-वृत्ति से मादक रस पीता है, उसके दोषों को देखो; उसके मायाचरण को मुझसे सुनो।

३८. उस भिक्षु के उन्मत्तता, माया-मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असाधुता—ये दोष बढते हैं।

३९. वह दुर्मति अपने दुष्कर्मों से चोर की भाँति सदा उद्विग्न रहता है। मद्यप-मुनि मरणान्त-काल मे भी सवर[3] की आराधना नहीं कर पाता।

४०. वह न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणो की भी। गृहस्थ भी उसे मद्यप मानते हैं; इसलिए उसकी गर्हा करते हैं।

४१. इस प्रकार अगुणों की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और गुणों को वर्जने वाला मुनि मरणान्त-काल मे भी संवर की आराधना नहीं कर पाता।

४२. जो मेधावी तपस्वी तप करता है, प्रणीत-रस को वर्जता है, मद्य-प्रमाद से विरत होता है, गर्व नही करता—

४३. उसके अनेक साधुओं द्वारा प्रशसित, विपुल और अर्थ-सयुक्त कल्याण को स्वय देखो और मैं उसकी कीर्तना करूँगा वह सुनो।

४४. इस प्रकार गुण की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और अगुणो को वर्जने वाला, शुद्ध-भोजी मुनि मरणान्त-काल मे भी सवर की आराधना करता है।

४५ वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे शुद्ध-भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं।

---

१. शल्य का अर्थ है—सूक्ष्म कांटा। माया, निदान और मिथ्या दर्शन—ये तीन शल्य हैं। ये तीनों सतत चुभने वाले पाप कर्म हैं।

२. एक प्रकार की मदिरा।

३. सयम, प्रत्याख्यान।

४६ जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर होता है वह किल्बिषिक¹-देव-योग्य कर्म करता है।

४७ किल्बिषिक देव के रूप में उत्पन्न जीव देवत्व को पाकर भी वहाँ यह नहीं जानता कि 'यह मेरे किस कार्य का फल है।'

४८ वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य-गति में आ एडमूकता (गूंगापन) अथवा नरक या तिर्यञ्चयोनि को पाएगा, जहाँ बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है।

४९ इस दोष को देख कर ज्ञातपुत्र ने कहा—मेधावी मुनि अणु-मात्र भी मायामृषा न करे।

५० संयत और बुद्ध (तत्त्वज्ञ) श्रमणों के समीप भिक्षैषणा की विशुद्धि सीख कर उसमें सुप्रणिहित इन्द्रिय वाला भिक्षु उत्कृष्ट संयम और गुण से सम्पन्न हो कर विचरे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ किल्बिषिक अधम जाति के देव होते हैं।

छठा अध्ययन

महाचार कथा

१. ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में रत, आगम-सम्पदा से युक्त गणी को उद्यान में समवसृत देख —

२. राजा और उनके अमात्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय उन्हें नम्रतापूर्वक पूछते हैं—आपके आचार का विषय कैसा है ?

३. ऐसा पूछे जाने पर वे स्थितात्मा, दान्त, सब प्राणियों के लिए सुखावह, शिक्षा से समायुक्त और विचक्षण गणी उन्हें बताते हैं—

४. मोक्ष चाहने वाले[1] निर्ग्रन्थों के भीम, दुर्धर और पूर्ण आचार का विषय मुझसे सुनो।

५. संसार में इस प्रकार का अत्यन्त दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के अतिरिक्त कहीं नहीं कहा गया है। मोक्ष-स्थान की आराधना करने वाले के लिए ऐसा आचार अतीत में न कहीं था और न कहीं भविष्य में होगा।

६. बाल, वृद्ध, अस्वस्थ या स्वस्थ—सभी मुमुक्षुओं को जिन गुणों की आराधना अखण्ड और अस्फुटित[2] रूप से करनी चाहिए, उन्हें यथार्थ रूप से सुनो।

---

१. धम्मत्थकाम—धर्म का अर्थ—प्रयोजन है—मोक्ष। उसकी कामना करने वाले अर्थात् मोक्ष चाहने वाले।

२. आंशिक विराधना न करना 'अखण्ड' और पूर्णतः विराधना न करना 'अस्फुटित' कहलाता है।

७ आचार के अठारह स्थान हैं।[1] जो मुनि उनमें से किसी एक भी स्थान की विराधना करता है, वह संयम से च्युत हो जाता है।

८ महावीर ने उन अठारह स्थानों में पहला स्थान अहिंसा का कहा है। इसे उन्होंने सूक्ष्म रूप से देखा है। सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है।

९ लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ जान या अजान में उनका हनन न करे और न कराए।

१० सभी जीव जीना चाहते हैं मरना नहीं। इसलिए प्राण-वध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

११ निर्ग्रन्थ अपने या दूसरों के लिए क्रोध से या भय से पीड़ाकारक सत्य और असत्य न बोले, न दूसरों से बुलवाए।

१२ इस समूचे लोक में मृषा-वाद सब साधुओं द्वारा गर्हित है और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। अतः निर्ग्रन्थ असत्य न बोले।

१३ संयमी मुनि सजीव या निर्जीव, अल्प या बहुत, दन्तशोधन मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना—

१४ स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरों से ग्रहण नहीं कराता और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता।

१५ अब्रह्मचर्य लोक में घोर, प्रमाद-जनक और दुर्बल व्यक्तियों द्वारा आसेवित है। चरित्र-भङ्ग के स्थान से बचने वाले मुनि उसका आसेवन नहीं करते।

१६ यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महान् दोषों की राशि है। इसलिए निर्ग्रन्थ मैथुन के संसर्ग का वर्जन करते हैं।

१७ जो महावीर के वचन में रत हैं वे मुनि बिड-लवण[2], सामुद्र-लवण, तैल, घी और द्रव-गुड़ का संग्रह करने की इच्छा नहीं करते।

---

१ १-६ छह व्रत—
अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्रिभोजन-वर्जन।
७-१२ छह काय—पृथ्वीकाय-संयम, अप्काय-संयम, तेजस्काय-संयम, वायुकाय-संयम, वनस्पतिकाय-संयम और त्रसकाय-संयम।
१३ अकल्प-वर्जन १४ गृहि-भाजन-वर्जन, १५. पर्यंक-वर्जन, १६.—गृहान्तर निषद्या-वर्जन, १७ स्नान-वर्जन, १८ विभूषा-वर्जन।
२ कृत्रिम लवण।

१८. जो कुछ भी संग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव है—ऐसा मैं मानता हूँ। जो श्रमण सन्निधि का कामी है वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नहीं है।

१९. जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हें मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं और उनका उपयोग करते हैं।

२०. सब जीवों के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है। मूर्च्छा परिग्रह है—ऐसा महर्षि (गणधर) ने कहा है।

२१. सब काल और सब क्षेत्रों में तीर्थंकर उपधि (एक दूष्य—वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येक-बुद्ध[1], जिनकल्पिक[2] आदि भी संयम की रक्षा के निमित्त उपधि (रजोहरण, मुख-वस्त्र आदि) ग्रहण करते हैं। वे उपधि पर तो क्या अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते।

२२. अहो! सभी तीर्थंकरों ने श्रमणों के लिए संयम के अनुकूल वृत्ति और देह-पालन के लिए एक बार भोजन (या राग-द्वेष रहित होकर भोजन करना)—इस नित्य तप.कर्म का उपदेश दिया है।

२३. जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं, उन्हें रात्रि में नहीं देखता हुआ निर्ग्रन्थ एषणा कैसे कर सकता है?

२४. उदक से आर्द्र और बीज युक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग—उन्हें दिन में टाला जा सकता है पर रात में उन्हें टालना शक्य नहीं—इसलिए निर्ग्रन्थ रात को भिक्षाचर्या कैसे कर सकता है?

२५. ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—"जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रि-भोजन नहीं करते, चारों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते।"

२६. सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण और कृत, कारित एवं अनुमति—इस त्रिविध योग से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते।

२७. पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

२८. इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ (हिंसा) का वर्जन करे।

---

१. किसी एक निमित्त से संबुद्ध होने वाले साधक।

२. साधना की विशिष्ट अवस्था।

२९. सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से अप्काय की हिंसा नहीं करते।

३० अप्काय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

३१ इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ (हिंसा) का वर्जन करे।

३२ मुनि जाततेज[1] अग्नि जलाने की इच्छा नहीं करते। क्योंकि वह दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र और सब ओर से दुराश्रय (दुःसह) है।

३३ वह पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः दिशा और विदिशाओं में भी दहन करती है।

३४ निःसन्देह यह हव्यवाह (अग्नि) जीवों के लिए आघात है। संयमी प्रकाश और ताप के लिए इसका कुछ भी आरम्भ न करे।

३५. (अग्नि जीवों के लिए आघात है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

३६ तीर्थंकर वायु के समारम्भ को अग्नि-समारम्भ के तुल्य ही मानते हैं। यह प्रचुर सावद्य-बहुल (पाप-युक्त) है। यह छहकाय के त्राता मुनियों के द्वारा आसेवित नहीं है।

३७ इसलिए वे बीजन, पत्र, शाखा और पंखे से हवा करना तथा दूसरों से हवा करवाना नहीं चाहते।

३८ जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं उनके द्वारा वे वायु की उदीरणा नहीं करते, किन्तु यतनापूर्वक उनका परिभोग करते हैं।

३९ (वायु-समारम्भ सावद्य-बहुल है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

४० सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से वनस्पति की हिंसा नहीं करते।

४१ वनस्पति की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

---

१ उत्पन्न काल से ही तेजस्वी।

४२. इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वनस्पति के समारम्भ का वर्जन करे।

४३. सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते।

४४. त्रसकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

४५. इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

४६. ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय है, उनका वर्जन करता हुआ मुनि संयम का पालन करे।

४७. मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे।

४८. जो नित्याग्र[1], क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार ग्रहण करते हैं वे प्राणी-वध का अनुमोदन करते हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।

४९. इसलिए धर्मजीवी, स्थितात्मा निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत अशन, पान आदि का वर्जन करते हैं।

५०. जो गृहस्थ के कांसे के प्याले, कांसे के पात्र और कुण्डमोद[2] में अशन, पान आदि खाता है वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है।

५१. बर्तनों को सचित्त जल से धोने में और बर्तनों के धोए हुए पानी को डालने में प्राणियों की हिंसा होती है। तीर्थंकरों ने वहां असंयम देखा है।

५२. गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने में 'पश्चात्-कर्म' और 'पुरःकर्म' की सम्भावना है। वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नहीं है। इसलिए वे गृहस्थ के बर्तन में भोजन नहीं करते।

५३. आर्यो (मुनियों) के लिए आसन्दी (मञ्चिका), पलंग, मञ्च (मचान) और आसालक (आराम कुर्सी) पर बैठना या सोना अनाचीर्ण है।

५४. तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित विधियों का आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ आसन्दी, पलंग, निषद्या (आसन) और पीढ़े का (विशेष स्थिति में उपयोग करना पड़े तो) प्रतिलेखन किये बिना उन पर न बैठें और न सोएं।

---

१. आदरपूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला।

२. कांसे के बने कुण्डे के आकार वाले बर्तन।

५५ आसन्दी आदि गम्भीर छिद्रवाले होते हैं। इनमें प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए आसन्दी, पलंग आदि पर बैठना या सोना वर्जित किया गया है।

५६ भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को प्राप्त होता है।

५७ गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य—आचार का विनाश, प्राणियों का अवधकाल में वध, भिक्षाचरों के अंतराय और घरवालों को क्रोध उत्पन्न होता है—

५८ ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है और स्त्री के प्रति शंका उत्पन्न होती है। यह (गृहान्तर निषद्या) कुशील वर्धक स्थान है, इसलिए मुनि इसका दूर से वर्जन करे।

५९ जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों में से कोई भी साधु गृहस्थ के घर में बैठ सकता है।

६० जो रोगी या निरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है उसके आचार का उल्लंघन होता है उसका संयम परित्यक्त होता है।

६१ यह बहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि और दरार-युक्त भूमि में सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित कर देता है।

६२. इसलिए मुनि शीत या उष्ण जल से स्नान नहीं करते। वे यावज्जीवन घोर अस्नान-व्रत का पालन करते हैं।

६३ मुनि शरीर का उबटन करने के लिए गन्ध-चूर्ण कल्क[1], लोध्र[2], पद्मकेसर[3] आदि का प्रयोग नहीं करते।

६४ नग्न, मुण्ड, दीर्घ-रोम और नख वाले तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है?

६५ विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने (दारुण) कर्म का बन्धन करता है। उससे वह दुस्तर संसार-सागर में गिरता है।

---

१ गन्ध-द्रव्य का आटा, विलेपन द्रव्य।

२. गन्ध-द्रव्य।

३ कुंकुम और केसर, विशेष सुगन्धित द्रव्य।

६६. विभूषा में प्रवृत्त मन को तीर्थंकर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते हैं। यह प्रचुर सावद्य-बहुल (पाप-युक्त) है। यह छह काय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नहीं है।

६७. अमोहदर्शी, तप-संयम और ऋजुता रूप गुण में रत मुनि शरीर को कृश कर देते हैं। पुराकृत पाप का नाश करते हैं और नये पाप नहीं करते।

६८. सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिंचन, आत्म-विद्यायुक्त यशस्वी और त्राता मुनि शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह मल रहित होकर सिद्धि या सौधर्मावतंसक आदि विमानों को प्राप्त करते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

सातवाँ अध्ययन

वाक्यशुद्धि

१ प्रज्ञावान मुनि चारों भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय (शुद्ध प्रयोग) सीखे और दो सर्वथा न बोले।

२ जो अवक्तव्य-सत्य, सत्यमृषा (मिश्र), मृषा और असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हो, उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले।

३ प्रज्ञावान् मुनि असत्यामृषा (व्यवहार भाषा) और सत्य भाषा—जो अनवद्य मृदु और सन्देह रहित हो उसे सोच विचार कर बोले।

४ वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्यामृषा को भी न बोले जो अपने आशय का यह अर्थ है या दूसरा—इस प्रकार संदिग्ध बना देती हो।

५ जो पुरुष सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है (पुरुषवेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है) उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा बोले ?

६ इसलिए—'हम जाएँगे,' 'कहेंगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा' 'मैं यह करूँगा' अथवा 'यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा'—

७ यह और इस प्रकार की दूसरी भाषा जो भविष्य-सम्बन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शंकित हो अथवा वर्तमान और अतीतकाल-सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित हो, उसे भी धीरपुरुष न बोले।

८ अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी जिस अर्थ को (सम्यक् प्रकार से) न जाने, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे।

९. अतीत, वर्तमान और अनागत काल के जिस अर्थ में शंका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे।

१० अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जो अर्थ निःशंकित हो (उसके बारे में) 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा कहे।

११ इसी प्रकार परुष और महान् भूतोपघात करने वाली सत्य भाषा भी न बोले। क्योंकि इससे पाप-कर्म का बंध होता है।

१२ इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे।

१३. आचार (वचन-नियमन) सम्बन्धी भाव-दोष (चित्त के प्रद्वेष या प्रमाद) को जानने वाला प्रज्ञावान् पुरुष पूर्व श्लोकोक्त अथवा इसी कोटि की दूसरी भाषा, जिसमें दूसरे को चोट लगे—न बोले।

१४. इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल !, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !,[1]—ऐसा न बोले।

१५. हे आर्यिके ! (हे दादी !, हे नानी !), हे प्रार्यिके ! (हे परदादी ! हे परनानी !), हे अम्ब ! (हे मा), हे मौसी !, हे बुआ !, हे भानजी !, हे पुत्री !, हे पोती !—

१६. हे हले ![2], हे हली !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले !, हे गोले !, हे वृषले !—इस प्रकार स्त्रियों को आमन्त्रित न करे।

१७. किन्तु प्रयोजनवश यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे।

१८. हे आर्यक ! (हे दादा !, हे नाना), हे प्रार्यक ! (हे परदादा !, हे परनाना !), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोता !—

१९. हे हल !, हे अन्न !, हे भट्ट !, हे स्वामिन् !, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल !, हे वृषल !— इस प्रकार पुरुष को आमन्त्रित न करे।

२०. किन्तु (प्रयोजनवश) यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे।

२१. पंचेन्द्रिय प्राणियों के बारे में जब तक—यह स्त्री है या पुरुष—ऐसा न जान जाए तब तक गाय की जाति, घोड़े की जाति—इस प्रकार बोले।

२२. इसी प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी और सांप को (देख यह) स्थूल, प्रमेदुर वध्य (या वाह्य) अथवा पाक्य है, ऐसा न कहे।

---

१. ये सब अवज्ञा-सूचक आमन्त्रण शब्द हैं—होल—निष्ठुर आमंत्रण। गोल—जारपुत्र। वृषल—शूद्र। द्रमक—रंक। दुर्भग—भाग्यहीन।

२. महाराष्ट्र में 'हले' और 'अन्ने' ये तरुण स्त्री के लिए सम्बोधन शब्द हैं। लाटदेश में उसके लिए, 'हला' शब्द का प्रयोग होता था। 'भट्टे'—पुत्र-रहित स्त्री के लिए। 'सामिणी' 'गोमणी'—सम्मान सूचक सम्बोधन शब्द। 'होले' 'गोल' और 'वसुले'—गोल देश में प्रयुक्त प्रिय-आमंत्रण वचन

२३ (प्रयोजनवश कहना हो तो) उसे परिवृद्ध कहा जा सकता है, उपचित कहा जा सकता है अथवा संजात (युवा), प्रीणित (आहार आदि से तृप्त) और महाकाय कहा जा सकता है।

२४ इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि गायें दुहने योग्य हैं, बैल दमन करने योग्य हैं, वहन करने योग्य हैं और रथ-योग्य हैं—इस प्रकार न बोले।

२५ (प्रयोजनवश कहना हो तो) बैल युवा है, धेनु दूध देने वाली है, बैल छोटा है, बड़ा है अथवा संवहन—धुरा को वहन करने वाला है—यों कहा जा सकता है।

२६ इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ बड़े वृक्षों को देख प्रज्ञावान् मुनि यों न कहे—

२७ (ये वृक्ष) प्रासाद, स्तम्भ, तोरण (नगर-द्वार), घर, परिघ[1], अर्गला[2], नौका और जल की कुंडी के लिए उपयुक्त (पर्याप्त या समर्थ) हैं।

२८ (ये वृक्ष) पीठ, काष्ठ-पात्री, हल, मयिक[3], कोल्हू, नाभि (पहिये का मध्य भाग) अथवा अहरन के उपयुक्त हैं।

२९ (इन वृक्षों में) आसन, शयन, यान और उपाश्रय के उपयुक्त कुछ (काष्ठ) हैं—इस प्रकार भूतोपघातिनी भाषा प्रज्ञावान भिक्षु न बोले।

३० इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ बड़े वृक्षों को देख (प्रयोजनवश कहना हो तो) प्रज्ञावान भिक्षु यों कहे—

३१ ये वृक्ष उत्तम जाति के हैं, गोल हैं, महालय (बहुत विस्तार वाले अथवा स्कन्ध युक्त) हैं, शाखा वाले हैं और दर्शनीय हैं।

३२ तथा ये फल पक्व हैं, पका कर खाने योग्य हैं—इस प्रकार न कहे। (तथा ये फल) वेलोचित (अविलम्ब तोड़ने योग्य हैं), इनमें गुठली नहीं पड़ी है, ये दो टुकड़े करने योग्य हैं (फांक करने योग्य हैं)—इस प्रकार न कहे।

३३ (प्रयोजनवश कहना हो तो) ये आम्र-वृक्ष अब फल धारण करने में असमर्थ हैं, बहुनिर्वर्तित (प्रायः निष्पन्न) फल वाले हैं, बहु-संभूत (एक साथ

---

१ परिघ—नगरद्वार की आगल।
२ अर्गला—गृहद्वार की आगल।
३ मयिक—बोये हुए खेत को सम करने के लिए उपयोग में आने वाला कृषि का एक उपकरण।

५३ (वह [illegible] के प्रश्न पे) [illegible] है या [illegible] है [illegible] है [illegible] —इस प्रकार न कहे।

५४ [illegible] ({[illegible]} [illegible]) [illegible] है— [illegible] इस प्रकार न कहे। [illegible] हो।

५५ [illegible] (वह [illegible]) [illegible] (बहुत [illegible]) (वह [illegible]) [illegible] ([illegible]), [illegible] है [illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible]) इस प्रकार न कहे।

५६ [illegible] —इस प्रकार कहे।

५७ इसी प्रकार वीर और [illegible] ([illegible]) को [illegible] ([illegible]) [illegible] —इस प्रकार न कहे।

५८ ये बहुत सारे [illegible] हैं। [illegible] न कहे [illegible] कहे।

५९ [illegible] और [illegible] और [illegible] —इस प्रकार [illegible] कहे।

६० देव मनुष्य और तिर्यंचों (पशु पक्षी) का [illegible] —इस प्रकार न कहे।

६१ वायु, वर्षा, [illegible] सर्दी, गर्मी, सुभिक्ष और शिव[2] [illegible] —इस प्रकार न कहे।

६२ इसी प्रकार [illegible] और [illegible] है — [illegible]

---

१ [illegible] — [illegible] ।

२ शिव — [illegible] ।

आठवाँ अध्ययन

आचार-प्रणिधि

१ आचार-प्रणिधि[1] को पाकर भिक्षु को जिस प्रकार (जो) करना चाहिए वह मैं कहूँगा। अनुक्रमपूर्वक मुझसे सुनो।

२ पृथ्वी, उदक, अग्नि, वायु, बीजपर्यन्त (मूल से बीज तक) तृण-वृक्ष और त्रस प्राणी—ये जीव हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।

३ भिक्षु का मन, वचन और काया से उनके प्रति सदा अहिंसक होना चाहिए। इस प्रकार अहिंसक रहने वाला संयत (संयमी) होता है।

४ सुसमाहित संयमी तीन करण और तीन योग से पृथ्वी, भित्ति (दरार) शिला और ढेले का भेदन न करे और न उन्हें कुरेदे।

५. मुनि शुद्ध पृथ्वी[2] और सचित्त रज से संसृष्ट आसन पर न बैठे। अचित्त पृथ्वी पर प्रमार्जन कर और वह जिसकी हो उसकी अनुमति लेकर बैठे।

६ संयमी शीतोदक, ओले, बरसात के जल और हिम का सेवन न करे। तप्त होने पर जो प्रासुक हो गया हो वैसा जल ले।

७ मुनि जल से भीगे अपने शरीर को न पोंछे और न मले। शरीर को तथाभूत (भीगा हुआ) देख कर उसका स्पर्श न करे।

८ मुनि अंगार, अग्नि, अर्चि और ज्योतिसहित अलात (जलती लकड़ी) को न प्रदीप्त करे, न स्पर्श करे और न बुझाए।

९. मुनि वीजन, पत्र, शाखा या पंखे से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों पर हवा न डाले।

१० मुनि तृण, वृक्ष तथा किसी भी (वृक्ष आदि के) फल या मूल का छेदन न करे और विविध प्रकार के सचित्त बीजों की मन से भी इच्छा न करे।

११ मुनि वन-निकुञ्ज के बीच बीज, हरित, उदक—अनन्तकायिक वनस्पति, उत्तिंग—सर्पछत्र और काई पर खड़ा न रहे।

---

१ आचार की निधि, आचार में दृढ़ मानसिक संकल्प।—

२ शस्त्र से अनुपहत पृथ्वी या शुद्ध भूतल।

१२. मुनि वचन अथवा काया से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे। सब जीवों के वध से उपरत होकर विभिन्न प्रकार वाले जगत् को देखे—आत्मौपम्य दृष्टि से देखे।

१३. संयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म (शरीर वाले जीवों) को देख कर बैठे, खड़ा हो और सोये। इन सूक्ष्म-शरीर वाले जीवों को जानने पर ही कोई सब जीवों की दया का अधिकारी होता है।

१४. वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से हैं? संयमी शिष्य यह पूछे तब मेधावी और विचक्षण आचार्य कहे कि वे ये हैं—

१५. स्नेह, पुष्प, प्राण, उत्तिंग[1], काई, बीज, हरित और अण्ड—ये आठ प्रकार के सूक्ष्म हैं।

१६. सब इन्द्रियों से समाहित साधु इस प्रकार इन सूक्ष्म जीवों को सब प्रकार से जानकर अप्रमत्त-भाव से सदा यतना करे।

१७. मुनि पात्र, कम्बल, शय्या, उच्चार-भूमि, संस्तारक अथवा आसन का यथासमय प्रमाणोपेत प्रतिलेखन करे।

१८. संयमी मुनि प्रासुक (जीव रहित) भूमि का प्रतिलेखन कर वहाँ उच्चार-प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक के मैल और शरीर के मैल का उत्सर्ग करे।

१९. मुनि जल या भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके उचित स्थान पर खड़ा रहे, परिमित बोले और रूप में मन न करे।

२०. भिक्षु कानों से बहुत सुनता है, आँखों से बहुत देखता है। किन्तु सब देखे और सुने को कहना उसके लिए उचित नहीं।

२१. सुनी हुई या देखी हुई घटना के बारे में साधु औपघातिक (पीड़ा-कारक) वचन न कहे और किसी उपाय से गृहस्थोचित कर्म का समाचरण न करे।

२२. किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह सरस है, यह नीरस है, यह अच्छा है, यह बुरा है—ऐसा न कहे और सरस या नीरस आहार मिला या न मिला यह भी न कहे।

२३. भोजन में गृद्ध होकर विशिष्ट घरों में न जाए किन्तु वाचालता से रहित होकर उञ्छ (अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा) ले। अप्रासुक, क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार प्रमादवश आ जाने पर भी न खाए।

२४. संयमी अणुमात्र भी सन्निधि (संचय) न करे। वह मुधाजीवी

---

१. कीटिकानगर।

(निष्काम-जीवी) असम्बद्ध (अलिप्त) और जगत् के आश्रित रहे—कुल या ग्राम के आश्रित न रहे।

२५ मुनि रूक्षवृत्ति, सुसन्तुष्ट, अल्प इच्छा वाला और अल्पाहार से तृप्त होने वाला हो। वह जिन-शासन को सुनकर[1] क्रोध न करे।

२६ कानों के लिए सुखकर शब्दों में प्रेम न करे। दारुण और कर्कश स्पर्श को काया से सहन करे।

२७ क्षुधा, प्यास, दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना) शीत, उष्ण, अरति और भय को अव्यथित चित्त से सहन करे। क्योंकि देह में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महाफल का हेतु होता है।

२८ सूर्यास्त से लेकर पुनः पूर्व में न निकल आए तब तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे।

२९ आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर प्रलाप न करे, चपल न बने। अल्पभाषी, मितभाषी और उदर का दमन करने वाला हो। थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे।

३० दूसरे का तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष न दिखाए। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का मद न करे।

३१ ज्ञान या अज्ञान से कोई अधर्म-कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार वह कार्य न करे।

३२ अनाचार का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार करे किन्तु सदा पवित्र, स्पष्ट, अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे।

३३. मुनि महान् आत्मा आचार्य के वचन को सफल करे। (आचार्य जो कहे) उसे वाणी से ग्रहण कर कर्म से उसका आचरण करे।

३४ मुमुक्षु जीवन को अनित्य और अपनी आयु को परिमित जान तथा सिद्धि-मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर भोगों से निवृत्त बने।

(अपना बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर क्षेत्र और काल को जानकर अपनी आत्मा को शक्ति के अनुसार तप आदि में नियोजित करे।)

३५. जब तक बुढ़ापा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करे।

३६ क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े।

---

१ जिनोपदेश के बोध से कटु वचनों को सुनकर।

३७. क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है।

३८. उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते, ऋजुभाव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीते।

३९. अनिगृहीत क्रोध और मान, प्रवर्द्धमान माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं।

४०. पूजनीयों (आचार्य, उपाध्याय और दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ साधुओं) के प्रति विनय का प्रयोग करे। ध्रुवशीलता (अष्टादशसहस्र शीलाङ्गों) की कभी हानि न करे। कूर्म की तरह आलीन-गुप्त[1] और प्रलीनगुप्त[2] हो तप और संयम में पराक्रम करे।

४१. मुनि निद्रा को बहुमान न दे, अट्टहास का वर्जन करे, मैथुन की कथा में रमण न करे, सदा स्वाध्याय में रत रहे।

४२. मुनि आलस्यरहित हो श्रमण-धर्म में योग (मन, वचन और काया) का यथोचित प्रयोग करे। श्रमण धर्म में लगा हुआ मुनि अनुत्तर फल को प्राप्त होता है।

४३. जिस श्रमण-धर्म के द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के पश्चात् सुगति प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह बहुश्रुत की पर्युपासना करे और अर्थ-विनिश्चय के लिए प्रश्न करे।

४४. जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को संयमित कर, आलीन (न अतिदूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से संयत) हो कर गुरु के समीप बैठे।

४५. आचार्य आदि के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे। गुरु के समीप उनके उरु से अपना उरु सटाकर न बैठे।

४६. बिना पूछे न बोले, बीच में न बोले, चुगली न खाए और कपटपूर्ण असत्य का वर्जन करे।

४७. जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा न बोले।

---

१. काय-चेष्टा का निरोध।

२. प्रयोजनवश यतनापूर्वक काया की प्रवृत्ति।

४८ आत्मवान् दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण, व्यक्त, परिचित, वाचालतारहित और भयरहित भाषा बोले।

४९. आचारांग और प्रज्ञप्ति—इनको धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढ़ने वाला मुनि बोलने में स्खलित हुआ है (उसने वचन, लिंग और वर्ण का विपर्यास किया है) यह जानकर मुनि उसका उपहास न करे।

५० नक्षत्र, स्वप्नफल, वशीकरण, मंत्र और भेषज—ये जीवों की हिंसा के स्थान हैं, इसलिए मुनि गृहस्थों को इनका फलाफल न बताए।

५१ मुनि दूसरों के लिए बने हुए गृह, शयन और आसन का सेवन करे। वह गृह मल-मूत्र-विसर्जन की भूमि से युक्त तथा स्त्री और पशु से रहित हो।

५२ जो एकान्त स्थान हो वहाँ मुनि केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे। मुनि गृहस्थों से परिचय न करे, परिचय साधुओं से करे।

५३ जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को सदा बिल्ली से भय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है।

५४ चित्र-भित्ति (स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति) या आभूषणों से सुसज्जित स्त्री को टकटकी लगाकर न देखे। उस पर दृष्टि पड़ जाये तो उसे वैसे खींच ले जैसे मध्याह्न के सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि स्वयं खिंच जाती है।

५५ जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, जो नाक-कान से विकल हो वैसी सौ वर्ष की बूढ़ी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे।

५६. आत्मगवेषी पुरुष के लिए विभूषा, स्त्री का संसर्ग और प्रणीत-रस का भोजन तालपुट-विष के समान है।

५७ स्त्रियों के अंग, प्रत्यंग, संस्थान, चारु-भाषित (मधुर बोली) और कटाक्ष को न देखे—उनकी ओर ध्यान न दे, क्योंकि ये सब काम-राग को बढ़ाने वाले हैं।

५८ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पुद्गलों के परिणमन को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग भाव न करे।

५९. इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गलों के परिणमन को जैसा है वैसा जानकर अपनी आत्मा को उपशान्त कर तृष्णारहित हो विहार करे।

६० जिस श्रद्धा से उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए घर से निकला है उस श्रद्धा को पूर्ववत् बनाए रखे और आचार्य-सम्मत गुणों का अनुपालन करे।

६१ जो मुनि इस तप, संयम-योग और स्वाध्याय-योग में सदा प्रवृत्त

रहता है वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर।

६२. स्वाध्याय और सद्ध्यान में लीन, त्राता, निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि का पूर्व संचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल।

६३. जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममत्वरहित और अकिञ्चन है, वह कर्मरूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से वियुक्त चन्द्रमा।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

नौवाँ अध्ययन

विनय-समाधि

(पहला उद्देशक)

१ जो मुनि गर्व, क्रोध, माया या प्रमादवश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नहीं लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश के लिए होती है, जैसे—कीचक (बांस) का फल उसके वध के लिए होता है।

२ जो मुनि गुरु को 'ये मन्द (अल्पप्रज्ञ) हैं', 'ये अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत हैं'—ऐसा जानकर उनके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उनकी अवहेलना करते हैं वे गुरु की आशातना करते हैं।

३ कई आचार्य वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मन्द (अल्पप्रज्ञ) होते हैं और कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न होते हैं। आचारवान् और गुणों में सुस्थितात्मा आचार्य, भले फिर वे मन्द हों या प्राज्ञ अवज्ञा प्राप्त होने पर गुण-राशि को उसी प्रकार भस्म कर डालते हैं जिस प्रकार अग्नि ईंधन-राशि को।

४ जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मन्द संसार में परिभ्रमण करता है।

५ आशीविष सर्प अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या कर सकता है? परन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि के कारण बनते हैं। अतः आशातना से मोक्ष नहीं मिलता।

६ कोई जलती अग्नि को लाँघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—वे जिस प्रकार हित के लिए नहीं होते उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नहीं होती।

७ सम्भव है कदाचित् अग्नि न जलाए, सम्भव है आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न डसे और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है।

८. कोई सिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिंह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है, गुरु की आशातना इनके समान है।

९. सम्भव है सिर से पर्वत को भी भेद डाले, सम्भव है सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है।

१०. आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता। आशातना से मोक्ष नहीं मिलता इसलिए मोक्ष-सुख चाहने वाला मुनि गुरु-कृपा के अभिमुख रहे।

११. जैसे आहिताग्नि ब्राह्मण विविध आहुति और मन्त्रपदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान से सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करे।

१२. जिसके समीप धर्मपदों की शिक्षा लेता है उसके समीप विनय का प्रयोग करे। सिर को झुकाकर, हाथों को जोड़कर (पञ्चांग-वन्दन कर[1]) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे।

१३. लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य—ये कल्याणभागी साधु के लिए विशोधि-स्थल हैं। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते हैं उनकी मैं सतत पूजा करता हूँ।

१४. जैसे दिन में प्रदीप्त होता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारत (भरत-क्षेत्र) को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करते हैं और जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार साधुओं के बीच आचार्य सुशोभित होते हैं।

१५. जिस प्रकार बादलों से मुक्त विमल आकाश में नक्षत्र और तारागण से परिवृत कार्तिक-पूर्णिमा में उदित चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी (आचार्य) शोभित होते हैं।

१६. अनुत्तर ज्ञान आदि गुणों की सम्प्राप्ति की इच्छा रखने वाला मुनि

---

१. दोनों घुटनों को भूमि पर टिका कर, दोनों हाथों को भूमि पर रखकर, उस पर अपना मस्तक रखे—यह पञ्चांग (दो पैर, दो हाथ और एक सिर) वन्दन की विधि है।

निर्जरा का अर्थी होकर समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर मोक्ष की एषणा करने वाले आचार्य की आराधना करे और उन्हें प्रसन्न करे।

१७ मेधावी मुनि इन सुभाषितों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणों की आराधना कर अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त करता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१० जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते हैं, वे सेवाकाल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

११ जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

१२ जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते हैं, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे जल से सींचे हुए वृक्ष।

१३ जो गृही अपने या दूसरों के लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प और नैपुण्य सीखते हैं—

१४ वे पुरुष ललितेन्द्रिय होते हुए भी शिक्षा-काल में (शिक्षक के द्वारा) घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं।

१५ फिर भी वे उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते हैं, नमस्कार करते हैं और सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।

१६ जो आगम-ज्ञान को पाने में तत्पर और अनन्त हित (मोक्ष) का इच्छुक है उसका फिर कहना ही क्या? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लंघन न करे।

१७ भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या (बिछौना) करे, नीची गति करे,[1] नीचे खड़ा रहे, नीचा आसन करे, नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे और नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े।

१८ अपनी काया से तथा उपकरणों से एवं किसी दूसरे प्रकार से आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—"आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा।"

१९ जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ आदि को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है। (बुद्धिमान् शिष्य गुरु के एक बार बुलाने पर या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे किन्तु आसन को छोड़कर शुश्रूषा के साथ उनके वचन को स्वीकार करे।)

२० काल, अभिप्राय और आराधना-विधि को हेतुओं से जानकर उस उस (अनुकूल) उपाय के द्वारा उस उस प्रयोजन का सम्प्रतिपादन करे—पूरा करे।

---

१ शिष्य आचार्य से आगे, अति समीप और अति दूर न चले।

नौवां अध्ययन

विनय-समाधि

(तीसरा उद्देशक)

१ जैसे आहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित (दृष्टि-क्षेप) और इंगित (संकेत) को जानकर उनके अभिप्राय की आराधना करता है वह पूज्य है ।

२ जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उनके वाक्य का ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है, जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है ।

३ जो अल्पवयस्क होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ हैं—उन पूजनीय साधुओं के प्रति जो विनय का प्रयोग करता है, नम्र व्यवहार करता है, सत्यवादी है गुरु के समीप रहने वाला है और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है ।

४ जो जीवन-यापन के लिए विशुद्ध सामुदायिक अज्ञात-उंछ [भिक्षा] की सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर खिन्न नहीं होता, मिलने पर श्लाघा नहीं करता, वह पूज्य है ।

५. संस्तारक, शय्या, आसन भक्त और पानी का अधिक लाभ होने पर भी जो अल्पेच्छ होता है, अपने-आप को सन्तुष्ट रखता है और जो सन्तोष-प्रधान जीवन में रत है, वह पूज्य है ।

६ पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटों को सहन कर सकता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना कानों में पैठते हुए वचन रूपी कांटों को सहन करता है, वह पूज्य है ।

७ लोहमय कांटे अल्पकाल तक दुःख-दायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं किन्तु दुर्वचनरूपी कांटे सहजतया नहीं निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले और महाभयानक होते हैं ।

८. सामने से आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुँच कर दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं। जो शूर वीरता में अग्रणी, जितेन्द्रिय पुरुष 'यह मेरा धर्म है'—ऐसा मानकर उन्हें सहन करता है, वह पूज्य है।

९. जो पीठ पीछे अवर्णवाद नहीं बोलता, जो सामने विरोधी वचन नहीं कहता, जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता, वह पूज्य है।

१०. जो रसलोलुप नहीं होता, इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता, माया नहीं करता, चुगली नहीं करता, दीनभाव से याचना नहीं करता, दूसरों से आत्मश्लाघा नहीं करवाता स्वयं भी आत्मश्लाघा नहीं करता और जो कुतूहल नहीं करता, वह पूज्य है।

११. गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। इसलिए साधु-गुणों—साधुता को ग्रहण कर और असाधु-गुणों—असाधुता को छोड़। आत्मा को आत्मा से जान कर जो राग और द्वेष में सम (मध्यस्थ) रहता है, वह पूज्य है।

१२. बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता, जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है।

१३. अभ्युत्थान के द्वारा सम्मानित किये जाने पर जो शिष्यों को सतत सम्मानित करते हैं—श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है।

१४. जो मेधावी मुनि उन गुणसागर गुरुओं के सुभाषित सुनकर उनका आचरण करता है, पाँच महाव्रतों में रत, मन, वाणी और शरीर से गुप्त तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है, वह पूज्य है।

१५. इस लोक में गुरु की सतत सेवा कर, जिनमत-निपुण (आगम-निपुण) और अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल मुनि पहले किये हुए रज और मल को कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

नौवां अध्ययन

विनय-समाधि

(चौथा उद्देशक)

आयुष्मान् ! मैंने सुना है उन भगवान् (प्रज्ञापक आचार्य प्रभवस्वामी) ने इस प्रकार कहा—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में स्थविर भगवान ने विनय-समाधि के चार स्थानों का प्रज्ञापन किया है।

वे विनय-समाधि के चार स्थान कौन से हैं जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है ?

वे विनय-समाधि के चार प्रकार ये हैं जिनका स्थविर भगवान ने प्रज्ञापन किया है, जैसे—विनय-समाधि, श्रुत समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि।

१ जो जितेन्द्रिय होते हैं वे पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को सदा विनय श्रुत, तप और आचार में लीन किए रहते हैं।

विनय-समाधि के चार प्रकार हैं जैसे—

१ शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है।
२ अनुशासन को सम्यग् रूप से स्वीकार करता है।
३ वेद (ज्ञान) की आराधना करता है अथवा (अनुशासन) के अनुकूल आचरण कर आचार्य की वाणी को सफल बनाता है।
४ आत्मोत्कर्ष (गर्व) नहीं करता—यह चतुर्थ पद है और यहाँ (विनय-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

मोक्षार्थी मुनि हितानुशासन की अभिलाषा करता है—सुनना चाहता है, शुश्रूषा करता है—अनुशासन को सम्यग् रूप से ग्रहण करता है अनुशासन के अनुकूल आचरण करता है मैं विनय-समाधि में कुशल हूँ—इस प्रकार के गर्व के उन्माद से उन्मत्त नहीं होता।

श्रुत-समाधि के चार प्रकार हैं जैसे—

१ 'मुझे श्रुत प्राप्त होगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

२. 'मैं एकाग्र-चित्त होऊँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
३. 'मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
४. 'मैं धर्म में स्थित होकर दूसरों को उसमें स्थापित करूँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए। यह चतुर्थ पद है और यहाँ (श्रुत-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

अध्ययन के द्वारा ज्ञान होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, धर्म में स्थित होता है और दूसरों को स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुत-समाधि में रत हो जाता है।

तप-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

१. इहलोक (वर्तमान जीवन की भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।
२. परलोक (पारलौकिक भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।
३. कीर्ति[1], वर्ण[2], शब्द[3], और श्लोक[4] के लिए तप नहीं करना चाहिए।
४. निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए। यह चतुर्थ पद है और यहाँ (तप-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है:—

सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है, तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप-समाधि में सदा युक्त हो जाता है।

आचार-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

१. इहलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।
२. परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।
३. कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

---

१. कीर्ति—सर्वदिग्व्यापी प्रशंसा।
२. वर्ण—एकदिग्व्यापी प्रशंसा।
३. शब्द—अर्धदिग्व्यापी प्रशंसा।
४. श्लोक—स्थानीय प्रशंसा।

४ आर्हत-हेतु (संवर और निर्जरा) के अन्य किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थ पद है और यहाँ (आचार-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

५. जो जिनवचन में रत होता है, जो प्रलाप नहीं करता, जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है, जो अत्यन्त मोक्षार्थी होता है वह आचार-समाधि के द्वारा संवृत होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला तथा मोक्ष को निकट करने वाला होता है।

६ जो चारों समाधियों को जानकर सुविशुद्ध और सुसमाहित चित्त वाला होता है, वह अपने लिए विपुल हितकर और सुखकर मोक्ष स्थान को प्राप्त करता है।

७ वह जन्म मरण से मुक्त होता है नरक आदि अवस्थाओं को पूर्णतः त्याग देता है। इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध अथवा अल्प कर्म वाला महर्द्धिक देव होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दसवाँ अध्ययन

सभिक्षु

१. जो तीर्थंकर के उपदेश से निष्क्रमण कर (प्रव्रजित हो), निर्ग्रन्थ प्रवचन में सदा समाहित-चित्त होता है, जो स्त्रियों के अधीन नहीं होता, जो वमे हुए को वापस नहीं पीता (त्यक्त भोगों का पुनः सेवन नहीं करता) वह भिक्षु है।

२. जो पृथ्वी का खनन न करता है और न कराता है, जो शीतोदक[1] न पीता है और न पिलाता है, शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है—वह भिक्षु है।

३. जो पंखे आदि से हवा न करता है और न कराता है, जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है, जो बीजों का सदा विवर्जन करता है (उनके संस्पर्श से दूर रहता है), जो सचित्त का आहार नहीं करता—वह भिक्षु है।

४. भोजन बनाने में पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है। अतः जो औद्देशिक (अपने निमित्त बना हुआ) नहीं खाता तथा जो स्वयं न पकाता है और न दूसरों से पकवाता है—वह भिक्षु है।

५. जो ज्ञात-पुत्र के वचन में श्रद्धा रख कर छहों कायों (सभी जीवों) को आत्मसम मानता है, पाँच महाव्रतों का पालन करता है और जो पाँच आस्रवों का संवरण करता है—वह भिक्षु है।

६. जो चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) का परित्याग करता है, जो निर्ग्रन्थ-प्रवचन में ध्रुवयोगी है, जो गृहियोग (क्रय-विक्रय आदि) का वर्जन करता है—वह भिक्षु है।

७. जो सम्यक्-दर्शी है, जो सदा अमूढ़ है, जो ज्ञान, तप और संयम के अस्तित्व में आस्थावान है, जो तप के द्वारा पुराने पापों को प्रकम्पित कर देता है, जो मन, वचन तथा काया से सुसंवृत है—वह भिक्षु है।

---

१. शीतोदक—जो पानी शस्त्र से अपहृत नहीं वह सचित्त जल।

८ पूर्वोक्त विधि से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर—यह कल या परसों काम आयेगा—इस विचार से जो न सन्निधि (संचय) करता है और न कराता है—वह भिक्षु है।

९. पूर्वोक्त प्रकार से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर जो अपने साधर्मिकों को निमन्त्रित कर भोजन करता है, जो भोजन कर चुकने पर स्वाध्याय में रत रहता है—वह भिक्षु है।

१० जो कलहकारी कथा नहीं करता, जो कोप नहीं करता, जिसकी इन्द्रियाँ अनुद्धत हैं, जो प्रशान्त है, जो संयम में ध्रुवयोगी है, जो उपशान्त है, जो दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता—वह भिक्षु है।

११ जो काँटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय विषयों, आक्रोश-वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं और वेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दुःख को समभावपूर्वक सहन करता है—वह भिक्षु है।

१२ जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहण कर अत्यन्त भयजनक दृश्यों को देख कर नहीं डरता, जो विविध गुणों और तपों में रत होता है, जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता—वह भिक्षु है।

१३ जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है, जो आक्रोश देने, पीटने और काटने पर पृथ्वी के समान सर्वसह होता है, जो निदान नहीं करता, जो कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है।

१४ जो शरीर के परीषहों को जीतकर जाति-पथ (संसार) से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभय जानकर श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है—वह भिक्षु है।

१५ जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, वाणी से संयत है, इन्द्रियों से संयत है, अध्यात्म में रत है, भलीभाँति समाधिस्थ है और जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है—वह भिक्षु है।

१६ जो मुनि वस्त्रादि उपधि में मूर्च्छित नहीं है, जो अगृद्ध है, जो अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, जो संयम को असार करने वाले दोषों से रहित है, जो क्रय विक्रय और सन्निधि से विरत है, जो सब प्रकार के संगों से रहित है—वह भिक्षु है।

१७ जो अलोलुप है, रसों में गृद्ध नहीं है, जो उञ्छचारी है (अज्ञात कुलों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेता है), जो असंयम जीवन की आकांक्षा नहीं

करता, जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा की स्पृहा को त्यागता है, जो स्थितात्मा है, जो अपनी शक्ति का गोपन नहीं करता—वह भिक्षु है।

१८. प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं— ऐसा जानकर जो दूसरे को 'यह कुशील (दुराचारी) है' ऐसा नहीं कहता, जिससे दूसरा कुपित हो ऐसी बात नहीं कहता, जो अपनी विशेषता पर उत्कर्ष नहीं लाता—वह भिक्षु है।

१९. जो जाति का मद नहीं करता, जो रूप का मद नहीं करता, जो लाभ का मद नहीं करता, जो श्रुत का मद नहीं करता, जो सब मदों को वर्जता हुआ धर्म-ध्यान में रत रहता है—वह भिक्षु है।

२०. जो महामुनि आर्यपद (धर्मपद) का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे को भी धर्म में स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुशील-लिंग[1] का वर्जन करता है, जो दूसरों को हंसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नहीं करता—वह भिक्षु है।

२१. अपनी आत्मा को सदा शाश्वत हित में सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देहवास को सदा के लिए त्याग देता है और जन्म-मरण के बन्धन को छेद कर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

---

१. परतीर्थिक या आचार रहित स्वतीर्थिक साधुओं का वेश।

पहली चूलिका

रतिवाक्या

मुमुक्षुओ ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो प्रव्रजित है किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया, संयम में उसका चित्त अरति-युक्त हो गया, वह संयम को छोड़, गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहता है, उसे संयम छोड़ने से पूर्व इन अठारह स्थानों का भलीभाँति आलोचन करना चाहिए। अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका का है। अठारह स्थान इस प्रकार हैं

१ ओह ! इस दुष्षमा (दुःख बहुल पाँचवें आरे) में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं।

२ गृहस्थों के काम भोग स्वल्प-सार-सहित (तुच्छ) और अल्पकालिक हैं।

३ मनुष्य प्रायः माया-बहुल होते हैं।

४ यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिरकाल-स्थायी नहीं होगा।

५ गृहवासी को नीच जनों का पुरस्कार करना होता है।

६ संयम को छोड़ घर में जाने का अर्थ है वमन को वापस पीना।

७ संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है नारकीय जीवन का अंगीकार।

८ ओह ! गृहवास में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है।

९ वहाँ आतंक वध के लिए होता है।

१० वहाँ संकल्प वध के लिए होता है।

११ गृहवास क्लेश सहित है और मुनि-पर्याय क्लेश रहित।

१२ गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मोक्ष।

१३ गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय अनवद्य।

१४ गृहस्थों के काम भोग बहुजन-सामान्य हैं—सर्व सुलभ हैं।

१५ पुण्य और पाप अपना-अपना होता है।

१६ ओह ! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जल बिन्दु के समान चंचल है।

१७. ओह! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पाप-कर्म किए हैं।

१८. ओह! दुश्चरित्र और दुष्ट पराक्रम के द्वारा पूर्व-काल में अर्जित किए हुए पाप-कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है—उनसे छुटकारा होता है, उन्हें भोगे बिना (अथवा तप के द्वारा उनका क्षय किये बिना) मोक्ष नहीं होता—उनसे छुटकारा नहीं होता। यह अठारहवाँ पद है। अब यहाँ श्लोक है—

१. अनार्य जब भोग के लिए धर्म को छोड़ता है, तब वह भोग में मूर्च्छित अज्ञानी अपने भविष्य को नहीं समझता।

२. जब कोई साधु उत्प्रव्रजित होता है—गृहवास में प्रवेश करता है—तब वह सब धर्मों से भ्रष्ट होकर वैसे ही परिताप करता है जैसे देवलोक के वैभव से च्युत होकर भूमितल पर पड़ा हुआ इन्द्र।

३. प्रव्रजित काल में साधु वंदनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अवंदनीय हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे अपने स्थान से च्युत देवता।

४. प्रव्रजित काल में साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे राज्य-भ्रष्ट राजा।

५. प्रव्रजित काल में साधु मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अमान्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कर्बट (छोटे से गाँव) में अवरुद्ध किया हुआ श्रेष्ठी।

६. यौवन के बीत जाने पर जब वह उत्प्रव्रजित साधु बूढ़ा होता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे काँटे को निगलने वाला मत्स्य।

७. वह उत्प्रव्रजित साधु जब कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे बन्धन में बँधा हुआ हाथी।

८. पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से परिव्याप्त वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फँसा हुआ हाथी।

९. आज मैं भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होता यदि जिनोपदिष्ट श्रमण-पर्याय (चरित्र) में रमण करता।

१०. संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान ही सुखद होता है और जो संयम में रत नहीं होते उनके लिए वही (मुनि-जीवन) महानरक के समान दुःखद होता है।

११ संयम में रत साधुओं का सुख देवों के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जान कर तथा संयम में रत न रहने वाले मुनियों का दुःख नरक के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जान कर पंडित मुनि संयम में ही रमण करे।

१२ जिसकी दाढ़ें उखाड़ दी गई हों उस घोर विषधर सर्प की साधारण लोग भी अवहेलना करते हैं वैसे ही धर्म भ्रष्ट, चारित्र रूपी श्री से रहित बुझी हुई यज्ञाग्नि की भाँति निस्तेज और दुर्विहित साधु की कुलीन व्यक्ति भी निन्दा करते हैं।

१३ धर्म से च्युत, अधर्मसेवी और चारित्र का खण्डन करने वाला साधु इसी मनुष्य जीवन में असंयम का आचरण करता है, उसका अयश और अकीर्ति होती है। साधारण लोगों में भी उसका दुर्नाम होता है तथा उसकी अधोगति होती है।

१४ वह संयम से भ्रष्ट साधु आवेशपूर्ण चित्त से भोगों को भोग कर और तथाविध प्रचुर असंयम का आसेवन कर अनिष्ट एवं दुःखपूर्ण गति में जाता है और बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि सुलभ नहीं होती।

१५ दुःख से युक्त और क्लेशमय जीवन बिताने वाले इन नारकीय जीवों की पल्योपम और सागरोपम आयु समाप्त हो जाती है तो फिर यह मेरा मनो दुःख कितने काल का है?

१६ यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय तो अवश्य ही मिट जाएगी।

१७ जिसकी आत्मा इस प्रकार निश्चित होती है (दृढ़ संकल्पयुक्त होती है)—"देह को त्याग देना चाहिए पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ना चाहिए"—उस दृढ़-प्रतिज्ञ साधु को इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकतीं जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को।

१८ बुद्धिमान् मनुष्य इस प्रकार सम्यक् आलोचना कर तथा विविध प्रकार के लाभ और अनेक साधनों को जान कर तीन गुप्तियों (काय, वाणी और मन) से गुप्त होकर जिनवाणी का आश्रय ले।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दूसरी चूलिका

विविक्तचर्या

१. मैं उस चूलिका को कहूँगा जो सुनी हुई है, केवली-भाषित है, जिसे सुन भाग्यशाली जीवों की धर्म में मति उत्पन्न होती है।

२. अधिकांश लोग अनुस्रोत में प्रस्थान कर रहे हैं—भोग-मार्ग की ओर जा रहे हैं। किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत में गति करने का लक्ष्य प्राप्त है, जो विषय-भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है, उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले जाना चाहिए—विषयानुरक्ति में प्रवृत्त नहीं करना चाहिए।

३. जन-साधारण को स्रोत के अनुकूल चलने में सुख की अनुभूति होती है। किन्तु जो सुविहित साधु है उनका आश्रव (इन्द्रिय-विजय) प्रतिस्रोत होता है। अनुस्रोत संसार है (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उतार है (जन्म-मरण का पार पाना है)।

४. इसलिए आचार में पराक्रम करने वाले, संवर में प्रभूत समाधि रखने वाले साधुओं को चर्या, गुणों तथा नियमों की ओर दृष्टिपात करना चाहिए।

५. अनिकेतवास (गृहवास का त्याग), समुदान चर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना, एकान्तवास, उपकरणों की अल्पता और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या (जीवन-चर्या) ऋषियों के लिए प्रशस्त है।

६. आकीर्ण[1] और अवमान[2] नामक भोज का विवर्जन, प्रायः दृष्ट-स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण ऋषियों के लिए प्रशस्त है। भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले। दाता जो वस्तु दे रहा है उसी से संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे।

---

१. वह भोज जहाँ बहुत भीड़ हो, 'आकीर्ण' कहलाता है।

२. वह भोज जहाँ गणना से अधिक खाने वालों की उपस्थिति होने के कारण खाद्य कम हो जाए, 'अवमान' कहलाता है।

७ साधु मद्य और मांस का अभोजी, अमत्सरी, बार-बार विकृतियों (घी, दूध, दही आदि) को न खाने वाला, बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में प्रयत्नशील हो।

८ साधु विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा न दिलाए कि यह शयन, आसन, उपाश्रय स्वाध्याय भूमि जब मैं लौट कर आऊँ तब मुझे ही देना। इसी प्रकार भक्त-पान मुझे ही देना—यह प्रतिज्ञा भी न कराए। गाँव, कुल, नगर या देश में—कहीं भी ममत्व भाव न करे।

९ साधु गृहस्थ का वैयावृत्य[1] (सेवा) न करे। अभिवादन, वन्दन और पूजन न करे। मुनि संक्लेश रहित साधुओं के साथ रहे जिससे कि चरित्र की हानि न हो।

१० यदि कदाचित् अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो पाप कर्मों का वर्जन करता हुआ काम भोगों में अनासक्त रह अकेला ही ([illegible]) विहार करे।

११ जिस गाँव में मुनि काल के उत्कृष्ट प्रमाण तक रह चुका हो (अर्थात् वर्षाकाल में चातुर्मास और शेष काल में एक मास रह चुका हो) वहाँ दो वर्ष (दो चातुर्मास और दो मास) का अन्तर किए बिना न रहे। भिक्षु सूत्रोक्त मार्ग से चले, सूत्र का अर्थ जिस प्रकार आज्ञा दे वैसे करे।

१२ जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में अपने-आप अपना आलोचन करता है—मैंने क्या किया? मेरे लिए क्या करना शेष है? वह कौन-सा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूँ पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूँ?

१३ क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा किसी भूल को मैं स्वयं देख लेता हूँ? वह कौन-सी स्खलना है जिसे मैं नहीं छोड़ रहा हूँ? इस प्रकार सम्यक् प्रकार से आत्म निरीक्षण करता हुआ मुनि अनागत का प्रतिबन्ध न करे—असंयम में न बंधे, निदान न करे।

१४ जहाँ कहीं भी मन, वचन और काया का दुष्प्रयोग होता हुआ देखे तो धीर साधु वहीं सम्हल जाए। जैसे जातिमान् अश्व लगाम को खींचने से सम्हल जाता है।

---

१ देखें—३/६ का टिप्पण।

१५. जिस जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं उसे लोक मे प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है। जो ऐसा होता है, वही संयमी जीवन जीता है ।

१६. सब इन्द्रियो को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखो से मुक्त हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

उत्तराध्ययन

पहला अध्ययन

विनय-श्रुत

१. जो संयोग से मुक्त है, अनगार है, भिक्षु है, उसके विनय[1] को क्रमशः प्रकट करूँगा। मुझे सुनो।

२. जो गुरु की आज्ञा[2] और निर्देश[3] का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित[4] और आकार[5] को जानता है, वह 'विनीत' कहलाता है।

३. जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता, गुरु की शुश्रूषा नहीं करता, जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है और तथ्य को नहीं जानता, वह 'अविनीत' कहलाता है।

४. जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है, वैसे ही दुःशील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला वाचाल भिक्षु भी गण से निकाल दिया जाता है।

५. जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही अज्ञानी भिक्षु शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है।

६. अपनी आत्मा का हित चाहने वाला भिक्षु कुतिया और सूअर की तरह दुःशील मनुष्य के अभाव (हीन भाव) को सुनकर अपने-आप को विनय में स्थापित करे।

७. इसलिए विनय का आचरण करे जिससे शील की प्राप्ति हो। जो

---

१. विनय—आचार, नम्रता।
२. आज्ञा—आगम का उपदेश।
३. निर्देश—गुरु-वचन।
४. इंगित—कार्य की प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिए भौं, शिर आदि को हिलाकर भाव व्यक्त करना।
५. आकार—स्थूल चेष्टा।

बुद्ध-पुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) और मोक्ष का अर्थी होता है, वह गण से नहीं निकाला जाता।

८ भिक्षु आचार्य के समीप सदा प्रशान्त रहे, वाचालता न करे। उनके पास अर्थ-युक्त पदों को सीखे और निरर्थक बातों का वर्जन करे।

९ पण्डित भिक्षु गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, क्षमा की आराधना करे। क्षुद्र व्यक्तियों के साथ संसर्ग, हास्य और क्रीड़ा न करे।

१० भिक्षु क्रूर व्यवहार न करे। बहुत न बोले। स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे और उसके पश्चात् अकेला ध्यान करे।

११ भिक्षु सहसा कुछ कर्म कर उसे कभी भी न छिपाए। करणीय कार्य किया हो तो किया और नहीं किया हो तो न किया कहे।

१२ जैसे अविनीत घोड़ा चाबुक को बार-बार चाहता है वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन को बार बार न चाहे। जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड़ देता है वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इंगित और आकार को देखकर अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ दे।

१३ आज्ञा को न मानने वाले और अंट-संट बोलने वाले कुशील शिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं। चित्त के अनुसार चलने वाले और पटुता से कार्य को सम्पन्न करने वाले शिष्य शीघ्र ही कुपित होने वाले गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

१४ बिना पूछे कुछ भी न बोले। पूछने पर असत्य न बोले। क्रोध न करे। क्रोध आ जाए तो उसे विफल कर दे। प्रिय और अप्रिय को धारण करे—उन पर राग और द्वेष न करे।

१५ आत्मा का ही दमन करना चाहिए। क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित-आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

१६ अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ। दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नहीं है।

१७ लोगों के समक्ष या एकान्त में, वचन से या कर्म से कभी भी आचार्यों के प्रतिकूल वर्तन न करे।

१८ आचार्यों के बराबर न बैठे। आगे और पीछे भी न बैठे। उनके ऊरू (साथल) से अपना ऊरू सटा कर न रहे। बिछौने पर बैठा हुआ ही उनके आदेश को स्वीकार न करे, किन्तु उसे छोड़ कर स्वीकार करे।

१९. संयमी मुनि गुरु के समीप पल्थी[1] लगाकर दोनों बाहुओं से जंघाओं को वेष्टित कर तथा पैरों को फैलाकर न बैठे।

२०. आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर कभी भी मौन न रहे। गुरु के प्रसाद को चाहने वाला मोक्षाभिलाषी शिष्य सदा उनके समीप रहे।

२१. बुद्धिमान शिष्य गुरु के एक बार बुलाने पर या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे, किन्तु वे जो आदेश दें, उसे आसन को छोड़कर यत्न के साथ स्वीकार करे।

२२. आसन पर अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कभी भी गुरु से कोई बात न पूछे, परन्तु उनके समीप आकर उकडू बैठ, हाथ जोड़ कर पूछे।

२३. इस प्रकार जो शिष्य विनय-युक्त हो, उसके पूछने पर गुरु सूत्र, अर्थ और तदुभय (सूत्र और अर्थ दोनों) जैसे सुने हों वैसे बताए।

२४. भिक्षु असत्य का परिहार करे। निश्चय-कारिणी भाषा न बोले। भाषा के दोषों को छोड़े। माया का सदा वर्जन करे।

२५ किसी के पूछने पर भी अपने, पराए या दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही सावद्य न बोले, निरर्थक न बोले और मर्म-भेदी वचन न बोले।

२६ कामदेव के मंदिरों में, घरों में, दो घरों के बीच की संधियों में और राजमार्ग में अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे और न संलाप करे।

२७ "आचार्य मुझ पर कोमल या कठोर वचनों से जो अनुशासन करते हैं वह मेरे लाभ के लिए है"—ऐसा सोच कर प्रयत्नपूर्वक उनके वचनों को स्वीकार करे।

२८. मृदु या कठोर वचनों से किया जाने वाला अनुशासन दुर्गति का निवारक होता है। प्रज्ञावान् मुनि उसे हित मानता है। वही असाधु के लिए द्वेष का हेतु बन जाता है।

२९. भय-मुक्त बुद्धिमान् शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं। परन्तु क्षांति और चित्त-विशुद्धि करने वाला तथा गुण-वृद्धि का आधारभूत वही अनुशासन अज्ञानियों के लिए द्वेष का हेतु बन जाता है।

३०. मुनि वैसे आसन पर बैठे जो गुरु के आसन से नीचा हो, अकम्पमान

---

१. पल्थी—प्राचीन काल में इसका अर्थ था—घुटनों और जांघों के चारों ओर कपड़ा बांध कर बैठना।

हो और स्थिर हो। प्रयोजन होने पर भी बार बार न उठे। बैठे तब स्थिर एवं शांत होकर बैठे, हाथ-पैर आदि से चपलता न करे।

३१ समय पर भिक्षा के लिए निकले समय पर लौट आए। अकाल को वर्ज कर, जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे।

३२ भिक्षु परिपाटी (पंक्ति) में खड़ा न रहे। गृहस्थ के द्वारा दिए हुए आहार की एषणा करे। मुनि के वेष में एषणा कर यथासमय मित आहार करे।

३३ पहले से ही अन्य भिक्षु खड़े हों तो उनसे अति-दूर या अति-समीप खड़ा न रहे और देने वाले गृहस्थों की दृष्टि के सामने भी न रहे। किन्तु अकेला (भिक्षुओं और दाता—दोनों की दृष्टि से बच कर) खड़ा रहे। भिक्षुओं को लांघ कर भिक्षा लेने के लिए न जाए।

३४ संयमी मुनि प्रासुक और गृहस्थ के लिए बना हुआ आहार ले किन्तु अति ऊँचे या अति-नीचे स्थान से लाया हुआ तथा अति-समीप या अति-दूर से दिया जाता हुआ आहार न ले।

३५. संयमी मुनि प्राणी और बीज रहित, ऊपर से ढँके हुए और पार्श्व में भित्ति आदि से संवृत उपाश्रय में अपने सहधर्मी मुनियों के साथ, भूमि पर न गिराता हुआ, संयमपूर्वक आहार करे।

३६ बहुत अच्छा किया है (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है (घेवर आदि), बहुत अच्छा छेदा है (पत्ती का शाग आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (शाग की कड़वाहट आदि), बहुत अच्छा मरा है (चूरमे में घी आदि), बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है, बहुत इष्ट है—मुनि इन सावद्य वचनों का प्रयोग न करे।

३७ जैसे उत्तम घोड़े को हाँकता हुआ उसका वाहक आनन्द पाता है, वैसे ही पंडित (विनीत) शिष्य पर अनुशासन करते हुए गुरु आनन्द पाते हैं और जैसे दुष्ट घोड़े को हाँकता हुआ उसका वाहक खिन्न होता है वैसे ही बाल (अविनीत) शिष्य पर अनुशासन करते हुए गुरु खिन्न होते हैं।

३८ पाप-दृष्टि वाला शिष्य गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को भी ठोकर मारने, चांटा चिपकाने, गाली देने व प्रहार करने के समान मानता है।

३९ गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह अपना समझ कर शिक्षा देते हैं—ऐसा सोच विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है परन्तु कुशिष्य हितानुशासन से शासित होने पर अपने को दास तुल्य मानता है।

४०. शिष्य आचार्य को कुपित न करे। स्वयं भी कुपित न हो। आचार्य का उपघात करनेवाला न हो। उनका छिद्रान्वेषी न हो।

४१. आचार्य को कुपित हुए जान कर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक वचनों से उन्हें प्रसन्न करे। हाथ जोड़ कर उन्हें शान्त करे और यों कहे कि "मैं पुनः ऐसा नहीं करूंगा।"

४२. जो व्यवहार धर्म से अर्जित हुआ है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ मुनि कहीं भी गर्हा को प्राप्त नहीं होता।

४३. आचार्य के मनोगत और वाक्यगत भावों को जान कर, उनको वाणी से ग्रहण करे और कार्यरूप में परिणत करे।

४४. जो विनय से प्रख्यात होता है वह सदा बिना प्रेरणा दिए ही कार्य करने में प्रवृत्त होता है। वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पा कर तुरत ही उनके उपदेशानुसार भलीभांति कार्य सम्पन्न कर लेता है।

४५. मेधावी मुनि उक्त विनय-पद्धति को जान कर उसे क्रियान्वित करने में तत्पर हो जाता है। उसकी लोक में कीर्ति होती है। जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार वह धर्माचरण करनेवालों के लिए आधार होता है।

४६. उसपर तत्त्ववित् पूज्य आचार्य प्रसन्न होते हैं। अध्ययन काल से पूर्व ही वे उसके विनय-समाचरण से परिचित होते हैं। वे प्रसन्न होकर उसे मोक्ष के हेतुभूत विपुल श्रुत-ज्ञान का लाभ करवाते हैं।

४७. वह पूज्य-शास्त्र होता है—उसके शास्त्रीय ज्ञान का बहुत सम्मान होता है। उसके सारे संशय मिट जाते हैं। वह गुरु के मन को भाता है। वह कर्म-सम्पदा (दस विध सामाचारी[1]) से सम्पन्न होकर रहता है। वह तप-सामाचारी और समाधि से संवृत होता है। पाँच महाव्रतों का पालन कर वह महान् तेजस्वी हो जाता है।

४८. देव, गन्धर्व और मनुष्यों से पूजित वह विनीत शिष्य मल और पंक[2] से बने हुए शरीर को त्याग कर या तो शाश्वत सिद्ध होता है या अल्पकर्म वाला महर्द्धिक देव होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. सामाचारी—मुनियों का व्यवहारात्मक आचार।

२. मल और पंक—रक्त और वीर्य।

दूसरा अध्ययन

परीषह-प्रविभक्ति

सू० १ आयुष्मन्! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन में बाईस परीषह[1] होते हैं, जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हें सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता।

सू० २ वे बाईस परीषह कौन से हैं जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं जिन्हें सुन कर जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता?

सू० ३ वे बाईस परीषह ये हैं, जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं जिन्हें सुन कर जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर पराजित कर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता। जैसे—

१ क्षुधा-परीषह, २ पिपासा-परीषह, ३ शीत-परीषह ४ उष्ण-परीषह, ५ दंश-मशक-परीषह ६ अचेल-परीषह ७ अरति-परीषह ८ स्त्री-परीषह, ९ चर्या-परीषह १० निषद्या-परीषह ११ शय्या-परीषह १२ आक्रोश-परीषह, १३ वध-परीषह, १४ याचना-परीषह १५ अलाभ-परीषह १६ रोग-परीषह, १७ तृण-स्पर्श-परीषह, १८ जल्ल-परीषह १९. सत्कार-पुरस्कार परीषह २० प्रज्ञा-परीषह, २१ अज्ञान-परीषह, २२ दर्शन-परीषह।

१ परीषहों का जो विभाग कश्यप-गोत्रीय भगवान महावीर के द्वारा प्रवेदित (प्ररूपित) है, उसे मैं क्रमशः कहूँगा। तुम मुझे सुनो।

---

[1] परीषह—स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों को क्षीण करने के लिए जो कष्ट सहा जाता है, वह।

(१) क्षुधा-परीषह

२. देह मे क्षुधा व्याप्त होने पर तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु फल आदि का छेदन न करे, न कराए। उन्हे न पकाए और न पकवाए।

३. शरीर के अग भूख से सूखकर काक-जंघा[1] नामक तृण जैसे दुर्बल हो जायें, शरीर कृश हो जाये, धमनियो का ढाँचा-भर रह जाये तो भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला मुनि अदीनभाव से विहरण करे।

(२) पिपासा-परीषह

४. असयम से घृणा करने वाला, लज्जावान् सयमी साधु प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त (सजीव) पानी का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करे।

५. निर्जन मार्ग में जाते समय प्यास से अत्यंत आकुल हो जाने पर, मुह सूख जाने पर भी साधु अदीनभाव से प्यास के परीषह को सहन करे।

(३) शीत-परीषह

६. विचरते हुए विरत और रुक्ष शरीर वाले साधु को शीत-ऋतु मे सर्दी सताती है। फिर भी वह जिन-शासन को सुन कर (आगम के उपदेश को ध्यान में रख कर) स्वाध्याय आदि की वेला—मर्यादा का अतिक्रमण न करे।

७. शीत से प्रताड़ित होने पर मुनि ऐसा न सोचे—मेरे पास शीत-निवारक घर आदि नहीं हैं और छवित्राण (वस्त्र, कम्बल आदि) भी नही है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूँ।

(४) उष्ण-परीषह

८. गरम धूलि आदि के परिताप, स्वेद, मैल या प्यास के दाह अथवा ग्रीष्म-कालीन सूर्य के परिताप मे अत्यन्त पीड़ित होने पर भी मुनि सुख के लिए विलाप न करे—आकुल-व्याकुल न बने।

९. गर्मी से अभितप्त होने पर भी मेधावी मुनि स्नान की इच्छा न करे। शरीर को गीला न करे। पखे से शरीर पर हवा न ले।

(५) दंश-मशक परीषह

१०. डांस और मच्छरो का उपद्रव होने पर भी महामुनि समभाव मे रहे, क्रोध आदि का वैसे ही हनन करे जैसे युद्ध के अग्रभाग में रहा हुआ शूर हाथी बाणो को नही गिनता हुआ शत्रुओं का हनन करता है।

---

२. काकजघा—घुंघची या गुंजा का वृक्ष।

११ भिक्षु उन दंश-मशकों से संत्रस्त न हो। उन्हें हटाए नहीं। मन में भी उनके प्रति द्वेष न लाए। मांस और रक्त खाने-पीने पर भी उनकी उपेक्षा करे, किन्तु उनका हनन न करे।

(६) अचेल-परीषह

१२ "वस्त्र फट गए हैं इसलिए मैं अचेल हो जाऊँगा अथवा वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेल हो जाऊँगा"—मुनि ऐसा न सोचे। (दीन और हर्ष दोनों प्रकार का भाव न लाए।)

१३ जिनकल्प[1]-दशा में अथवा वस्त्र न मिलने पर मुनि अचेलक भी होता है और स्थविरकल्प-दशा में वह सचेलक भी होता है। अवस्था भेद के अनुसार इन दोनों (सचेलत्व और अचेलत्व) को यति धर्म के लिए हितकर जान कर ज्ञानी मुनि वस्त्र न मिलने पर दीन न बने।

(७) अरति-परीषह

१४ एक गाँव से दूसरे गाँव में विहार करते हुए अकिंचन मुनि के चित्त में अरति उत्पन्न हो जाये तो उस परीषह को वह सहन करे।

१५ हिंसा आदि से विरत रहने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, धर्म में रमण करने वाला, असत् प्रवृत्ति से दूर रहने वाला, उपशान्त मुनि अरति को दूर कर विहरण करे।

(८) स्त्री-परीषह

१६ "लोक में जो स्त्रियाँ हैं, वे मनुष्यों के लिए संग हैं—लेप हैं'—जो इस बात को जानता है, उसका श्रामण्य सुकृत है।

१७ '*स्त्रियाँ ब्रह्मचारी के लिए दलदल के समान हैं*'—यह जानकर मेधावी मुनि उनसे अपने संयम-जीवन की घात न होने दे, किन्तु वह आत्मा की गवेषणा करता हुआ विचरण करे।

(९) चर्या-परीषह

१८ संयम के लिए जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषहों को जीत कर गाँव में या नगर में, *निगम*[2] में या राजधानी में अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) विचरण करे।

---

१ जिनकल्प—साधना की विशिष्ट पद्धति।

२ निगम—व्यापारिक केन्द्र।

१९. मुनि असदृश (असाधारण) होकर विहार करे। परिग्रह (ममत्व-भाव) न करे। गृहस्थो से निर्लिप्त रहे। अनिकेत (गृह-मुक्त) रहता हुआ परिव्रजन करे।

(१०) निषद्या-परीषह

२०. राग-द्वेष रहित मुनि चपलताओं का वर्जन करता हुआ श्मशान, शून्य-गृह अथवा वृक्ष के मूल मे बैठे। दूसरो को त्रास न दे।

२१. वहाँ बैठे हुए उसे उपसर्ग प्राप्त हो तो वह यह चिन्तन करे—"ये मेरा क्या अनिष्ट करेंगे ?" किन्तु अपकार की शका से डर कर वहाँ से उठ दूसरे स्थान पर न जाए।

(११) शय्या-परीषह

२२. तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु उत्कृष्ट या निकृष्ट उपाश्रय को पा कर मर्यादा का अतिक्रमण न करे (हर्ष या शोक न लाए)। जो पापदृष्टि होता है, वह मर्यादा का अतिक्रमण कर डालता है।

२३. मुनि एकान्त उपाश्रय—भले फिर वह सुन्दर हो या असुन्दर - को पाकर "एक रात मे क्या होना-जाना है"—ऐसा सोच कर वहीं रहे, जो भी सुख-दुःख हो उसे सहन करे।

(१२) आक्रोश-परीषह

२४ कोई मनुष्य भिक्षु को गाली दे तो वह उसके प्रति क्रोध न करे। क्रोध करने वाला भिक्षु बालको (अज्ञानियो) के सदृश हो जाता है, इसलिए भिक्षु क्रोध न करे।

२५. मुनि परुष, दारुण और प्रतिकूल भाषा को सुनकर मौन रहता हुआ उसकी उपेक्षा करे, उसे मन मे न लाए।

(१३) वध परीषह

२६. पीटे जाने पर भी मुनि क्रोध न करे। मन को दूषित न करे। क्षमा को परम साधन जान कर मुनि-धर्म का चिन्तन करे।

२७. सयत और दान्त श्रमण को कोई कहीं पीटे तो वह "आत्मा का नाश नहीं होता"—ऐसा चिन्तन करे, परन्तु प्रतिशोध की भावना न लाए।

(१४) याचना-परीषह

२८. अरे! अनगार भिक्षु की यह चर्या कितनी कठिन है कि उसे सब कुछ याचना से मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता।

२९. गोचराग्र मे प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थो के सामने हाथ पसारना सरल नही है। अत "गृहवास ही श्रेय है"—मुनि ऐसा चिन्तन न करे।

(१५) अलाभ-परीषह

३० गृहस्थों के घर भोजन तैयार हो जाने पर मुनि उसकी एषणा करे। आहार थोड़ा मिलने या न मिलने पर संयमी मुनि अनुताप न करे।

३१ "आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, परन्तु सम्भव है कल मिल जाये"—जो इस प्रकार सोचता है, उसे अलाभ नहीं सताता।

(१६) रोग-परीषह

३२ रोग को उत्पन्न हुआ जान कर तथा वेदना से पीड़ित होने पर दीन न बने। व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बनाए और प्राप्त दुःख को समभाव से सहन करे।

३३ आत्म-गवेषक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे। रोग हो जाने पर समाधि-पूर्वक रहे। उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए।

(१७) तृण-स्पर्श-परीषह

३४. अचेलक और रूक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी के घास पर सोने से शरीर में चुभन होती है।

३५. गर्मी पड़ने से अतुल वेदना होती है—यह जान कर भी तृण से पीड़ित मुनि वस्त्र का सेवन नहीं करते।

(१८) जल्ल-परीषह

३६ मैल, रज या ग्रीष्म के परिताप से शरीर के गीला या पंकिल हो जाने पर मेधावी मुनि सुख के लिए विलाप न करे।

३७ निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर आर्य-धर्म (श्रुत-चारित्र-धर्म) को पाकर देह-विनाश पर्यन्त काया पर 'जल्ल' (स्वेद-जनित मैल) को धारण करे और तज्जनित परीषह को सहन करे।

(१९) सत्कार-पुरस्कार-परीषह

३८ जो राजा आदि के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार अथवा निमंत्रण का सेवन करते हैं, उनकी इच्छा न करे—उन्हें धन्य न माने।

३९ अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला, अलोलुप भिक्षु रसों में गृद्ध न हो। प्रज्ञावान् मुनि दूसरों को सम्मानित देख अनुताप न करे।

(२०) प्रज्ञा-परीषह

४०. "निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञानरूप-फल देने वाले कर्म किए हैं। उन्हीं के कारण मैं किसी के कुछ पूछे जाने पर भी कुछ नही जानता।

४१. "पहले किए हुए अज्ञानरूप-फल देने वाले कर्म पकने के पश्चात् उदय मे आते हैं"—इस प्रकार कर्म के विपाक को जान कर मुनि आत्मा को आश्वासन दे।

(२१) अज्ञान-परीषह

४२. "मैं मैथुन से निवृत्त हुआ, इन्द्रिय और मन का मैंने संवरण किया—यह सब निरर्थक है। क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी—यह मैं साक्षात् नही जानता—

४३ "तपस्या और उपधान[1] को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमा[2] का पालन करता हूँ—इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करने पर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरणादि कर्म) निवर्तित नही हो रहा है"—ऐसा चिन्तन न करे।

(२२) दर्शन-परीषह

४४. "निश्चय ही परलोक नही है, तपस्वी की ऋद्धि[3] भी नही है, अथवा मैं ठगा गया हूँ"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

४५. "जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे—ऐसा जो कहते हैं वे झूठ बोलते हैं"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

४६. इन सभी परीषहों का कश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर ने प्ररूपण किया है। इन्हें जान कर, इनमें से किसी के द्वारा कहीं भी स्पृष्ट होने पर मुनि इनसे पराजित न हो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. उपधान—आगम-पठन के समय निश्चित विधि से किया जाने वाला तप।

२. प्रतिमा—एक प्रकार की विशिष्ट साधना।

३. ऋद्धि—तपस्या आदि से उत्पन्न विशेष शक्ति, योगज विभूति।

तीसरा अध्ययन

चतुरङ्गीय

१ इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम-अंग दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम।

२ संसारी जीव विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन कर विविध नाम वाली जातियों में उत्पन्न हो, पृथक्-पृथक् रूप से समूचे विश्व का स्पर्श कर लेते हैं—सब जगह उत्पन्न हो जाते हैं।

३ जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार कभी देवलोक में, कभी नरक में और कभी असुरों के निकाय में उत्पन्न होता है।

४ यही जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल, कभी बोक्कस[1] कभी कीट, कभी पतंगा, कभी कुंथु और कभी चींटी।

५ जिस प्रकार क्षत्रिय लोग समस्त अर्थों (काम-भोगों) का भोग करते हुए भी निर्वेद को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार कर्म-किल्बिष (कर्म से अधम) जीव योनि-चक्र में भ्रमण करते हुए भी संसार से निर्वेद नहीं पाते—उससे मुक्त होने की इच्छा नहीं करते।

६ जो जीव कर्मों के संग से सम्मूढ, दुःखित और अत्यन्त वेदना वाले हैं, वे अपने कृत कर्मों के द्वारा मनुष्येतर (नरक तिर्यञ्च) योनियों में ढकेले जाते हैं।

७ काल-क्रम के अनुसार कदाचित् मनुष्य-गति को रोकने वाले कर्मों का नाश हो जाता है। उससे शुद्धि प्राप्त होती है। उससे जीव मनुष्यत्व को प्राप्त होते हैं।

८ मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी उस धर्म की श्रुति दुर्लभ है जिसे सुनकर जीव तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

९ कदाचित् धर्म सुन लेने पर भी उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है। बहुत लोग मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग को सुन कर भी उससे भ्रष्ट हो जाते हैं।

---

१ बोक्कस—श्मशान पर कार्य करने वाले चाण्डाल।

१० श्रुति और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी संयम मे पुरुषार्थ होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत लोग सयम में रुचि रखते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते।

११ मनुष्यत्व को प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमें श्रद्धा करता है, वह तपस्वी सयम मे पुरुषार्थ कर, सवृत हो, कर्म-रजो को धुन डालता है।

१२. शुद्धि उसे प्राप्त होती है जो ऋजुभूत होता है। धर्म उसमे ठहरता है जो शुद्ध होता है। जिसमे धर्म ठहरता है वह घृत से अभिषिक्त अग्नि की भाँति परम दीप्ति को प्राप्त होता है।

१३. कर्म के हेतु को दूर कर। क्षमा से यश (संयम) का संचय कर। ऐसा करने वाला पार्थिव शरीर को छोड कर ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग या मोक्ष) को प्राप्त होता है।

१४. विविध प्रकार के शीलों की आराधना करके जो देव कल्पों व उनके ऊपर के देवलोको की आयु का भोग करते हैं, वे उत्तरोत्तर महाशुक्ल (चन्द्र-सूर्य) की तरह दीप्तिमान् होते हैं। 'स्वर्ग से पुनः च्यवन नहीं होता' ऐसा मानते हैं।

१५. वे दैवी भोगों के लिए अपने-आप को अर्पित किए हुए रहते हैं। वे इच्छानुसार रूप बनाने में समर्थ होते हैं। तथा सैकड़ों पूर्व-वर्षों तक—असख्य काल तक वहाँ रहते हैं।

१६. वे देव उन कल्पो मे अपनी शील-आराधना के अनुरूप स्थानों में रहते हुए आयु-क्षय होनेपर वहाँ से च्युत होते हैं। फिर मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं। वे वहाँ दस अगो[1] वाली भोग सामग्री से युक्त होते हैं।

---

१. दस अग—

(१) चार काम-स्कन्ध।
(२) मित्र।
(३) ज्ञाति।
(४) उच्चगोत्र।
(५) वर्ण।
(६) नीरोगता।
(७) महाप्राज्ञता।
(८) विनीतता।
(९) यशस्विता।
(१०) सामर्थ्य।

१७ क्षेत्र और वास्तु, स्वर्ण, पशु और दास-पौरुषेय—जहाँ ये चार काम-स्कन्ध[1] होते हैं, उन कुलों में वे उत्पन्न होते हैं।

१८ वे मित्रवान्, ज्ञातिमान्, उच्चगोत्र वाले, वर्णवान्, नीरोग, महाप्राज्ञ, अभिजात, यशस्वी और बलवान् होते हैं।

१९. जीवन भर अनुपम मानवीय भोगों को भोग कर, पूर्व-जन्म में आकांक्षा रहित तप करने वाले होने के कारण वे विशुद्ध बोधि का अनुभव करते हैं।

२० वे उक्त चार अंगों को दुर्लभ मान कर संयम का स्वीकार करते हैं। फिर तपस्या से कर्म के सब अंशों को धुन कर शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ काम-स्कन्ध—मनोज्ञ शब्द आदि के अथवा विलास के हेतुभूत पुद्गल समूह।

चौथा अध्ययन

असंस्कृत

१. जीवन सांधा नहीं जा सकता, इसलिए प्रमाद मत कर। बुढ़ापा आने पर कोई शरण नहीं होता। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे—यह विचार कर।

२. जो मनुष्य कुमति को स्वीकार कर पापकारी प्रवृत्तियों से धन का उपार्जन करते हैं, उन्हें देख। वे धन को छोड़ कर मौत के मुँह में जाने को तैयार हैं। वे वैर (कर्म) से बँधे हुए मर कर नरक में जाते हैं।

३. जैसे सेंध लगाते हुए पकड़ा गया चोर अपने कर्म से ही छेदा जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोक में प्राणी अपने कृत कर्मों से ही छेदा जाता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।

४. संसारी प्राणी अपने बन्धु-जनों के लिए जो साधारण कर्म करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धु-जन बन्धुता नहीं दिखाते—उसका भाग नहीं बँटाते।

५. प्रमत्त मनुष्य इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण नहीं पाता। अँधेरी गुफा में दीप बुझ गया हो उसकी भाँति, अनन्त मोह वाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देख कर भी नहीं देखता।

६. आशुप्रज्ञ पंडित सोये हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। मुहूर्त बड़े घोर (निर्दयी) होते हैं। शरीर दुर्बल है। इसलिए तू भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण कर।

७. पग-पग पर दोष से भय खाता हुआ, थोड़े से दोष को भी पाश मानता हुआ चले। नए-नए गुणों की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दे। जब वह न हो तब विचार-विमर्श पूर्वक इस शरीर का ध्वंस कर डाले।

८. शिक्षित और कवचधारी अश्व जैसे रण का पार पा जाता है, वैसे ही स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला मुनि संसार का पार पा जाता है। पूर्व जीवन में जो अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह उस अप्रमत्त-विहार से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

९. जो पूर्व जीवन में अप्रमत्त नहीं होता, वह पिछले जीवन में भी अप्रमत्त नहीं हो सकता। 'पिछले जीवन में अप्रमत्त हो जाएँगे'—ऐसा निश्चय वचन शाश्वत-वादियों के लिए ही उचित हो सकता है। पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला आयु के शिथिल होने पर, मृत्यु के द्वारा शरीर भेद के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है।

१० कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए तुम उठो ("जीवन के अन्तिम भाग में अप्रमत्त बनेंगे"—इस आलस्य को त्यागो)। काम भोगों को छोड़ो। लोक को भलीभाँति जानो। समभाव में रमण करो। आत्म रक्षक और अप्रमत्त हो कर विचरण करो।

११ बार-बार मोह-गुणों पर विजय पाने का यत्न करने वाले उग्र विहारी श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श पीड़ित करते हैं। किन्तु वह उन पर मन से भी प्रद्वेष न करे।

१२ अनुकूल स्पर्श विवेक को मन्द करने वाले और बहुत लुभावने होते हैं। वैसे स्पर्शों में मन को न लगाये। क्रोध का निवारण करे। मान को दूर करे। माया का सेवन न करे। लोभ को त्यागे।

१३ जो अन्य-तीर्थिक लोग "जीवन सांधा जा सकता है"—ऐसा कहते हैं वे अशिक्षित हैं, प्रेय और द्वेष में फँसे हुए हैं, परतन्त्र हैं। "वे धर्म रहित हैं" —ऐसा सोच उनसे दूर रहे। अंतिम साँस तक गुणों की आराधना करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पाँचवाँ अध्ययन

अकाम-मरणीय

१. इस महा-प्रवाह वाले दुस्तर संसार-समुद्र से कई तिर गए। उनमें एक महाप्राज्ञ (महावीर) ने यह स्पष्ट कहा —

२. मृत्यु के दो स्थान कहे हैं—अकाम-मरण[1] और सकाम-मरण[2]।

३. बाल[3] जीवों के अकाम-मरण बार-बार होता है। पण्डितों के सकाम-मरण अधिक-से-अधिक एक बार होता है।

४. महावीर ने उन दो स्थानों में पहला स्थान यह कहा है, जैसे कामासक्त बाल-जीव बहुत क्रूर-कर्म करता है।

५. जो कोई काम-भोगों में आसक्त होता है, उसकी गति मिथ्या-भाषण की ओर हो जाती है। वह कहता है—परलोक तो मैंने देखा नहीं, यह रति (आनन्द) तो चक्षु-दृष्ट है—आँखों के सामने है।

६. ये काम-भोग हाथ में आये हुए हैं। भविष्य में होनेवाले संदिग्ध हैं। कौन जानता है—परलोक है या नहीं?

७. "मैं लोक-समुदाय के साथ रहूँगा" (जो गति उनकी होगी वही मेरी) ऐसा मान कर बाल-मनुष्य धृष्ट बन जाता है। वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश पाता है।

८. फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवों के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है।

९. हिंसक, अज्ञानी, मृषावादी, मायावी, चुगलखोर और शठ मनुष्य मद्य और मांस का भोग करता हुआ, 'यह श्रेय है'—ऐसा मानता है।

---

१. अकाम-मरण—अविरतिपूर्ण मरण।

२. सकाम-मरण—विरतिपूर्ण मरण।

३. बाल—अज्ञानी।

१० वह शरीर और वाणी से मत्त होता है। धन और स्त्रियों में गृद्ध होता है। वह राग और द्वेष—दोनों से उसी प्रकार कर्म-मल का संचय करता है जैसे केंचुआ मुख और शरीर—दोनों से मिट्टी का।

११ फिर वह रोग से स्पृष्ट होने पर ग्लान बना हुआ परिताप करता है। अपने कर्मों का चिन्तन कर परलोक से भयभीत होता है।

१२ वह सोचता है—मैंने उन नारकीय स्थानों के विषय में सुना है जो शील रहित तथा क्रूर-कर्म करने वाले अज्ञानी मनुष्यों की अन्तिम गति है और जहाँ प्रगाढ़ वेदना है।

१३ उन नरकों में जैसा उत्पन्न होने का स्थान है, वैसा मैंने सुना है। वह आयुष्य क्षीण होने पर अपने कृत-कर्मों के अनुसार वहाँ जाता हुआ अनुताप करता है।

१४ जैसे कोई गाड़ीवान् समतल राजमार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड़ कर विषम मार्ग से चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है—

१५. इसी प्रकार धर्म का उल्लंघन कर अधर्म को स्वीकार कर, मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञानी धुरी टूटे हुए गाड़ीवान की तरह शोक करता है।

१६ फिर मरणान्त के समय वह अज्ञानी मनुष्य परलोक के भय से संत्रस्त होता है और एक ही दाँव में हार जाने वाले जुआरी की तरह शोक करता हुआ अकाम-मरण से मरता है।

१७ यह अज्ञानियों के अकाम-मरण का प्रतिपादन किया गया है। अब पण्डितों के सकाम-मरण को मुझसे सुनो।

१८ जैसा मैंने सुना भी है—पुण्यशाली, संयमी और जितेन्द्रिय पुरुषों का मरण प्रसन्न और आघात रहित होता है।

१९. यह सकाम-मरण न सब भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थों को। क्योंकि गृहस्थ विविध प्रकार के शील वाले होते हैं और भिक्षु भी विषम-शील वाले होते हैं।

२० कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है। किन्तु साधुओं का संयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है।

२१ चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटाधारीपन, संघाटी (उत्तरीय वस्त्र) और सिर मुंडाना—ये सब दुष्टशील वाले साधु की रक्षा नहीं करते।

२२ भिक्षा से जीवन चलाने वाला भी यदि दुःशील हो तो वह नरक से नहीं छूटता। भिक्षु हो या गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है तो स्वर्ग में जाता है।

२३. श्रद्धालु श्रावक गृहस्थ-सामायिक के अंगों का आचरण करे। दोनों पक्षों में किए जाने वाले पौषध[2] को एक दिन-रात के लिए भी न छोड़े।

२४. इस प्रकार शिक्षा से समापन्न सुव्रती गृहवास में रहता हुआ भी औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक में जाता है।

२५. जो संवृत-भिक्षु होता है, वह दोनों में से एक होता है—सब दुःखों से मुक्त सिद्ध या महान् ऋद्धि वाला देव।

२६. देवताओं के आवास क्रमशः उत्तम, मोह रहित, द्युतिमान् और देवों से आकीर्ण होते हैं। उनमें रहने वाले देव यशस्वी—

२७ दीर्घायु, ऋद्धिमान्, दीप्तिमान्, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्ति वाले और सूर्य के समान अति-तेजस्वी होते हैं।

२८. जो उपशान्त होते हैं, वे संयम और तप का अभ्यास कर उन देव-आवासों में जाते हैं, भले फिर वे भिक्षु हों या गृहस्थ।

२९. उन सत्-पूजनीय, संयमी और जितेन्द्रिय भिक्षुओं का पूर्वोक्त विवरण सुन कर शीलवान् और बहुश्रुत भिक्षु मरणकाल में भी संत्रस्त नहीं होते।

---

१. गृहस्थ-सामायिक के बारह अंग हैं—
   (१) अहिंसा अणुव्रत।
   (२) सत्य अणुव्रत।
   (३) अचौर्य अणुव्रत।
   (४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत।
   (५) अपरिग्रह अणुव्रत।
   (६) दिग्व्रत।
   (७) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत।
   (८) अनर्थदंड विरमण व्रत।
   (९) सामायिक व्रत।
   (१०) देशावकाशिक व्रत।
   (११) पौषध व्रत।
   (१२) अतिथि-संविभाग व्रत।

२. पौषध—उपवासपूर्वक की जाने वाली आत्मोपासना।

३० मेधावी मुनि अपने-आप को तोल कर सकाम और अकाम-मरण के भेद को जान कर, यति धर्मोचित सहिष्णुता और तथाभूत (उपशान्त मोह) आत्मा के द्वारा प्रसन्न रहे—मरण-काल में उद्विग्न न बने।

३१ जब मरण अभिप्रेत हो, उस समय जिस श्रद्धा से मुनि-धर्म या संलेखना को स्वीकार किया, वैसी ही श्रद्धा रखने वाला भिक्षु गुरु के समीप कष्ट जनित रोमांच को दूर कर, शरीर के भेद की इच्छा करे—उसकी सार-सम्भाल न करे।

३२ वह मरण-काल प्राप्त होने पर संलेखना के द्वारा शरीर का त्याग करता है, भक्त-परिज्ञा, इंगिनी या प्रायोपगमन—इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार कर सकाम मरण से मरता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

छठा अध्ययन

क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

१. जितने अविद्यावान् (मिथ्यात्व मे अभिभूत) पुरुष हैं, वे सब दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं। वे दिङ्मूढ की भांति मूढ़ बने हुए इस अनन्त ससार मे बार-बार लुप्त होते हैं।

२. इसलिए पण्डित पुरुष प्रचुर बधनो व जाति-पथो (चौरासी लाख योनियो) की समीक्षा कर स्वय सत्य की गवेषणा करे और सब जीवों के प्रति मैत्री का आचरण करे।

३. जब मैं अपने द्वारा किये गये कर्मों से छेदा जाता हूँ, तब माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, और औरस-पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते।

४. सम्यक् दर्शन वाला पुरुष अपनी बुद्धि से यह अर्थ देखे; गृद्धि और स्नेह का छेदन करे; पूर्व परिचय की अभिलाषा न करे।

५. गाय, घोडा, मणि, कुण्डल, पशु, दास और पुरुष-समूह—इन सब को छोड। ऐसा करने पर तू काम-रूपी[1] होगा।

(चल और अचल सम्पत्ति, धन, धान्य और गृहोपकरण—ये सभी पदार्थ कर्मो से दुःख पाते हुए प्राणी को मुक्त करने मे समर्थ नही होते।)

६ सब दिशाओं मे होने वाला सब प्रकार का अध्यात्म (सुख) जैसे मुझे इष्ट है, वैसे ही दूसरो को इष्ट है और सब प्राणियो को अपना जीवन प्रिय है—यह देख कर भय और वैर से उपरत पुरुष प्राणियों के प्राणों का घात न करे।

७. "परिग्रह नरक है"—यह देख कर वह एक तिनके को भी अपना बना कर न रखे (अथवा "अदत्त का आदान नरक है"—यह देख कर बिना दिया हुआ एक तिनका भी न ले)। असंयम से जुगुप्सा करनेवाला मुनि अपने पात्र मे गृहस्थ द्वारा प्रदत्त भोजन करे।

---

१. काम-रूपी—इच्छानुकूल रूप बनाने में समर्थ देव।

८ इस संसार में कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पापों का त्याग किए बिना ही आचार को जानने मात्र से जीव सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

९ "ज्ञान से ही मोक्ष होता है"—जो ऐसा कहते हैं, पर उसके लिए कोई क्रिया नहीं करते, वे केवल बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्त की स्थापना करने वाले हैं। वे केवल वाणी की वीरता से अपने आप को आश्वासन देने वाले हैं।

१० विविध भाषाएँ त्राण नहीं होतीं। विद्या का अनुशासन भी कहाँ त्राण देता है? अपने आप को पण्डित मानने वाले अज्ञानी मनुष्य विविध प्रकार से पाप-कर्मों में डूबे हुए हैं।

११ जो कोई मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण और रूप में सर्वशः आसक्त होते हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

१२ वे इस अनन्त संसार में जन्म-मरण के लम्बे मार्ग को प्राप्त किये हुए हैं। इसलिए सब उत्पत्ति स्थानों को देख कर मुनि अप्रमत्त होकर परिव्रजन करे।

१३ ऊर्ध्वलक्ष्यी होकर कभी भी विषयों की आकांक्षा न करे। पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

१४ कर्म के हेतुओं को दूर कर मुनि समयज्ञ होकर परिव्रजन करे। गृहस्थ के घर में सहज निष्पन्न आहार-पानी की आवश्यक मात्रा प्राप्त कर भोजन करे।

१५ संयमी मुनि लेप लगे उतना भी संग्रह न करे—बासी न रखे। पक्षी की भाँति कल की अपेक्षा न रखता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे।

१६ एषणा-समिति से युक्त और लज्जावान् मुनि गाँवों में अनियत विहार करे। वह अप्रमत्त रहकर गृहस्थों में पिण्डपात की गवेषणा करे।

१७ अनुत्तर ज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर-ज्ञान-दर्शन-धारी, अर्हन्, ज्ञातपुत्र वैशालिक और व्याख्याता भगवान् ने ऐसा कहा है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

सातवाँ अध्ययन

उरभ्रीय

१. जैसे पाहुने के उद्देश्य से कोई मेमने का पोषण करता है। उसे चावल, मूंग, उड़द आदि खिलाता है और अपने आँगन में ही पालता है।

२. इस प्रकार वह पुष्ट, बलवान्, मोटा, बड़े पेट वाला, तृप्त और विपुल देह वाला हो कर पाहुने की आकाङ्क्षा करता है।

३. जब तक पाहुना नहीं आता तब तक ही वह बेचारा जीता है। पाहुने के आने पर उसका सिर छेद कर उसे खा जाते हैं।

४. जैसे पाहुने के लिए निश्चित किया हुआ वह मेमना यथार्थ में उसकी आकाङ्क्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ अज्ञानी जीव यथार्थ में नरक के आयुष्य की इच्छा करता है।

५. हिंसक, अज्ञ, मृषावादी, मार्ग में लूटने वाला, दूसरों की दी हुई वस्तु का बीच में ही हरण करने वाला, चोर, मायावी, चुराने की कल्पना में व्यस्त, शठ—

६. स्त्री और विषयों में गृद्ध, महाआरम्भ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, बलवान्, दूसरों का दमन करने वाला—

७. बकरे की भाँति कर-कर शब्द करते हुए मांस को खाने वाला, तोंद वाला और उपचित रक्त वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकाङ्क्षा करता है जिस प्रकार मेमना पाहुने की।

८. आसन, शय्या, यान, धन और काम-विषयों को भोग कर, दुःख से एकत्रित किये हुए धन को द्यूत आदि के द्वारा गवाँ कर, बहुत कर्मों को संचित कर—

९. कर्मों से भारी बना हुआ, केवल वर्तमान को ही देखने वाला जीव मरणान्तकाल में उसी प्रकार शोक करता है जिस प्रकार पाहुने के आने पर मेमना।

१०. फिर आयु क्षीण होने पर वे नाना प्रकार की हिंसा करने वाले कर्म-वशवर्ती अज्ञानी जीव देह से च्युत होकर अन्धकारपूर्ण आसुरीय दिशा (नरक) की ओर जाते हैं।

११ जैसे कोई मनुष्य काकिणी[1] के लिए हजार कार्षापण[2] गँवा देता है, जैसे कोई राजा अपथ्य आम को खा कर राज्य से हाथ धो बैठता है, वैसे ही जो व्यक्ति मानवीय भोगों में आसक्त होता है, वह दैवी भोगों को हार जाता है।

१२ दैवी भोगों की तुलना में मनुष्य के काम-भोग उतने ही नगण्य हैं जितने कि हजार कार्षापणों की तुलना में एक काकिणी और राज्य की तुलना में एक आम। दिव्य आयु और दिव्य काम-भोग मनुष्य की आयु और काम-भोगों से हजार गुना अधिक हैं।

१३ प्रज्ञावान् पुरुष की देवलोक में अनेक वर्ष नयुत (असंख्यकाल) की स्थिति होती है—यह ज्ञात होने पर भी मूर्ख मनुष्य सौ वर्षों से कम जीवन के लिए उन दीर्घकालीन सुखों को हार जाता है।

१४ तीन वणिक् मूल पूँजी को लेकर निकले। उनमें से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है—

१५ और एक मूल को भी गँवा कर वापस आता है। यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

१६ मनुष्यत्व मूल धन है। देवगति लाभ-रूप है। मूल के नाश से जीव निश्चित ही नरक और तिर्यञ्च गति में जाते हैं।

१७ अज्ञानी जीव की दो प्रकार की गति होती है—नरक और तिर्यञ्च। वहाँ उसे वध-हेतुक आपदा प्राप्त होती है। वह लोलुप और वंचक पुरुष देवत्व और मनुष्यत्व को पहले ही हार जाता है।

१८ द्विविध दुर्गति में गया हुआ जीव सदा हारा हुआ होता है। उनका उनसे बाहर निकलना दीर्घकाल के बाद भी दुर्लभ है।

१९ इस प्रकार हारे हुए को देख कर तथा बाल और पण्डित की तुलना कर जो मानुषी योनि में आते हैं, वे मूल धन के साथ प्रवेश करते हैं।

२० जो मनुष्य विविध परिमाण वाली शिक्षाओं द्वारा घर में रहते हुए भी सुव्रती हैं, वे मानुषी योनि में उत्पन्न होते हैं। क्योंकि प्राणी कर्म-सत्य होते हैं—अपने किये हुए का फल अवश्य पाते हैं।

---

१ काकिणी—एक प्रकार का छोटा सिक्का, एक रुपए का अस्सीवाँ भाग।

२ कार्षापण—[illegible]।

२१. जिनके पास विपुल शिक्षा है, वे शील-सम्पन्न और उत्तरोत्तर गुणों को प्राप्त करने वाले पराक्रमी पुरुष मूल धन (मनुष्यत्व) का अतिक्रमण करके देवत्व को प्राप्त होते हैं।

२२. इस प्रकार पराक्रमी भिक्षु और गृहस्थ को (अर्थात् उनके पराक्रम-फल को) जान कर विवेकी पुरुष ऐसे लाभ को कैसे खोएगा? वह कषायों के द्वारा पराजित होता हुआ क्या यह नहीं जानता कि "मैं पराजित हो रहा हूँ?" यह जानते हुए उसे पराजित नहीं होना चाहिए।

२३. मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग, देव सम्बन्धी काम-भोगों की तुलना मे वैसे ही हैं, जैसे कोई व्यक्ति कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिन्दु की समुद्र से तुलना करता है।

२४. इस अति-संक्षिप्त आयु मे ये काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु जितने हैं। फिर भी किस हेतु को सामने रखकर मनुष्य योग-क्षेम को नहीं समझता?

२५. इस मनुष्य भव मे काम-भोगों से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। वह पार ले जाने वाले मार्ग को सुन कर भी बार-बार भ्रष्ट होता है।

२६. इस मनुष्य भव मे काम-भोगों से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट नहीं होता। वह औदारिक शरीर का निरोध कर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है।

२७. (देवलोक से च्युत होकर) वह जीव विपुल ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, जीवित और अनुत्तर सुख वाले मनुष्य-कुलों मे उत्पन्न होता है।

२८. तू बाल जीव की मूर्खता को देख। वह अधर्म को ग्रहण कर, धर्म को छोड़, अधर्मिष्ट बन नरक मे उत्पन्न होता है।

२९. सब धर्मों का पालन करने वाले धीर-पुरुष की धीरता को देख। वह अधर्म को छोड कर, धर्मिष्ट बन देवों में उत्पन्न होता है।

३०. पण्डित मुनि बाल-भाव और अबाल-भाव की तुलना कर, बाल-भाव को छोड, अबाल-भाव का सेवन करता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

कापिलीय

१ अध्रुव, अशाश्वत और दुःख-बहुल संसार में ऐसा कौन-सा कर्म है जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ ?

२ पूर्व सम्बन्धों का त्याग कर किसी भी वस्तु में स्नेह न करे। स्नेह करने वालों के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु दोषों और प्रदोषों से मुक्त हो जाता है।

३ केवलज्ञान और दर्शन से युक्त तथा विगतमोह मुनिवर ने सब जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा उन पाँच सौ चोरों की मुक्ति के लिए कहा।

४ भिक्षु कर्म-बन्ध की हेतुभूत सभी ग्रन्थियों और कलह का त्याग करे। काम भोगों के सब प्रकारों में दोष देखता हुआ आत्म रक्षक मुनि उनमें लिप्त न बने।

५. आत्मा को दूषित करने वाले भोगामिष (आसक्ति जनक भोग) में निमग्न, हित और श्रेयस् में विपरीत बुद्धि वाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ़ जीव उसी तरह (कर्मों से) बँध जाता है जैसे श्लेष्म में मक्खी।

६ ये काम भोग दुस्त्यज हैं, अधीर पुरुषों द्वारा ये सुत्यज नहीं हैं। जो सुव्रती साधु हैं वे दुस्तर काम-भोगों को उसी प्रकार तर जाते हैं जैसे वणिक् समुद्र को।

७ कुछ पशु की भाँति अज्ञानी पुरुष 'हम श्रमण हैं' ऐसा कहते हुए भी प्राण-वध को नहीं जानते। वे मन्द और बाल-पुरुष अपनी पापमयी दृष्टियों से नरक में जाते हैं।

८ प्राण वध का अनुमोदन करने वाला पुरुष भी सब दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। उन आर्य तीर्थंकरों ने ऐसा कहा है जिन्होंने इस साधु धर्म की प्रज्ञापना की।

९ जो जीवों की हिंसा नहीं करता उस त्रायी मुनि को 'समित' (सम्यक् प्रवृत्त) कहा जाता है। उससे पापकर्म वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे उन्नत प्रदेश से पानी।

१०. जगत् के आश्रित जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी प्रकार से दण्ड का प्रयोग न करे।

११. भिक्षु शुद्ध एषणाओं को जान कर उनमें अपनी आत्मा को स्थापित करे। यात्रा (संयम-निर्वाह) के लिए ग्रास की एषणा करे। भिक्षा-जीवी रसों मे गृद्ध न हो।

१२. भिक्षु नीरस अन्न-पान, शीत-पिण्ड, पुराने उड़द, बुक्कस (सारहीन), पुलाक (रूखा) या मंथु (बेर या सत्तू का चूर्ण) का जीवन-यापन के लिए सेवन करे।

१३. जो लक्षण-शास्त्र,[1] स्वप्न-शास्त्र और अग-विद्या[2] का प्रयोग करते हैं, उन्हे साधु नही कहा जाता—ऐसा आचार्यों ने कहा है।

१४. जो इस जन्म मे जीवन को अनियंत्रित रखकर समाधि-योग से परिभ्रष्ट होते हैं वे काम-भोग और रसो मे आसक्त बने हुए पुरुष असुर-काय में उत्पन्न होते हैं।

१५. वहाँ से निकल कर भी वे ससार में बहुत पर्यटन करते हैं। वे प्रचुर कर्मों के लेप से लिप्त होते हैं। इसलिए उन्हे बोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

१६. धन-धान्य से परिपूर्ण यह समूचा लोक भी यदि कोई किसी को दे दे, उससे भी वह सन्तुष्ट नही होता—तृप्त नही होता, इतना दुष्पूर है यह आत्मा।

१७. जैसे लाभ होता है वैसे ही लोभ होता है। लाभ से लोभ बढता है। दो माशे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड से भी पूरा नही हुआ।

१८. वक्ष में ग्रंथि (स्तनो) वाली, अनेक चित्त वाली तथा राक्षसी की भाँति भयावह स्त्रियो मे आसक्त न हो, जो पुरुष को प्रलोभन मे डाल कर उसे दास की भाँति नचाती है।

---

१. लक्षण-शास्त्र—शरीर के चिन्हों के आधार पर शुभ-अशुभ बतलाने शास्त्र।

२. अग-विद्या—शारीरिक अवयवों के स्फुरण के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।

१९. स्त्रियों को त्यागने वाला अनगार उनमें गृद्ध न बने। भिक्षु धर्म का अति मनोज्ञ ज्ञान कर उसमें अपनी आत्मा को स्थापित करे।

२०. इस प्रकार विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल ने यह धर्म कहा। जो इसका आचरण करेंगे वे ससार-समुद्र को तरेंगे और दोनों लोकों की आराधना कर लेंगे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

नौवाँ अध्ययन

नमि-प्रव्रज्या

१. नमिराज का जीव देवलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक में उत्पन्न हुआ। उसका मोह उपशान्त था जिससे उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।

२. भगवान् नमिराज पूर्व-जन्म की स्मृति पा कर अनुत्तर धर्म की आराधना के लिए स्वय-सबुद्ध हुआ और राज्य का भार पुत्र के कंधों पर डाल कर अभिनिष्क्रमण किया—प्रव्रज्या के लिए चल पड़ा।

३. उस नमिराज ने प्रवर अन्तःपुर मे रह कर देवलोक के भोगों के समान प्रधान भोगों का भोग किया और संबुद्ध होने के पश्चात् उन भोगों को छोड़ दिया।

४. भगवान् नमिराज ने नगर और जन-पद सहित मिथिला नगरी, सेना, रनिवास और सब परिजनों को छोड़ कर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्त-वासी बन गया।

५. जब राजर्षि नमि अभिनिष्क्रमण कर रहा था, प्रव्रजित हो रहा था, उस समय मियला में सब जगह कोलाहल होने लगा।

६. उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए उद्यत हुए राजर्षि से देवेन्द्र ने ब्राह्मण के रूप में आ कर इस प्रकार कहा—

७. 'हे राजर्षि ! आज मिथिला के प्रासादों और गृहों मे कोलाहल से परिपूर्ण दारुण शब्द क्यों सुनाई दे रहे हैं ?'

८. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

९. 'मिथिला मे एक चैत्य-वृक्ष था, शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र, पुष्प और फलों से लदा हुआ और बहुत पक्षियों के लिए सदा उपकारी।

१०. 'एक दिन हवा चली और उस चैत्य-वृक्ष को उखाड कर फेंक दिया। हे ब्राह्मण ! उसके आश्रित रहने वाले ये पक्षी दुःखी, अशरण और पीडित होकर आक्रन्द कर रहे हैं।'

११ इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

१२. 'यह अग्नि है और यह वायु है। यह आपका मन्दिर जल रहा है। भगवन्! आप अपने रनिवास की ओर क्यों नहीं देखते?'

१३ यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

१४ 'वे हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, सुखपूर्वक रहते और सुख से जीते हैं। मिथिला जल रही है उसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।

१५. 'पुत्र और स्त्रियों से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नहीं होती और अप्रिय भी नहीं होती।

१६ 'सब बन्धनों से मुक्त, 'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं'—इस प्रकार एकान्त-दर्शी, गृह-त्यागी एवं तपस्वी भिक्षु को विपुल सुख होता है।'

१७ इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

१८ 'हे क्षत्रिय! अभी तुम परकोटा, बुर्ज वाले नगर-द्वार, खाई और शतघ्नी[1] बनवाओ, फिर मुनि बन जाना।'

१९. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र से नमि राजर्षि ने इस प्रकार कहा—

२० 'श्रद्धा को नगर, तप और संयम को अर्गला, क्षमा को (बुर्ज, खाई और शतघ्नी स्थानीय), मन, वचन और काय-गुप्ति से सुरक्षित, दुर्जेय और सुरक्षा-निपुण परकोटा बना—

२१ 'पराक्रम को धनुष, ईर्या-समिति को उसकी डोर और धृति को उसकी मूठ बना, उसे सत्य से बाँधे।

२२ 'तप-रूपी नाराच-बाण से युक्त धनुष के द्वारा कर्म-रूपी कवच को भेद डाले। इस प्रकार संग्राम का अन्त कर मुनि संसार से मुक्त हो जाता है।'

२३ इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

---

१ शतघ्नी—एक बार में सौ व्यक्तियों का संहार करने वाला यंत्र।

२४. 'हे क्षत्रिय! अभी तुम प्रासाद, वर्धमान-गृह और चन्द्रशाला बनवाओ, फिर मुनि बन जाना।'

२५. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

२६. 'वह संदिग्ध ही बना रहता है जो मार्ग में घर बनाता है। अपना घर वहीं बनाना चाहिए जहाँ जाने की इच्छा हो—जहाँ जाने पर फिर कहीं जाना न हो।'

२७. इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२८. 'हे क्षत्रिय! अभी तुम बटमारों, प्राण हरण करने वाले लुटेरों, गिरहकटों और चोरों का निग्रह कर नगर में शान्ति स्थापित करो, फिर मुनि बन जाना।'

२९. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

३०. 'मनुष्यों द्वारा अनेक बार मिथ्या-दण्ड का प्रयोग किया जाता है। अपराध नहीं करने वाले यहाँ पकड़े जाते हैं और अपराध करने वाला छूट जाता है।'

३१. इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३२. 'हे नराधिप क्षत्रिय! जो कोई राजा तुम्हारे सामने नहीं झुकते उन्हें वश में करो, फिर मुनि बन जाना।'

३३. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

३४. 'जो पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा वह एक अपने-आप को जीतता है, यह उसकी परम विजय है।

३५. 'आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी युद्ध से तुझे क्या लाभ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर मनुष्य सुख पाता है।

३६. 'पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते हैं।'

३७. इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३८ 'हे क्षत्रिय ! अभी तुम प्रचुर यज्ञ करो, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराओ, दान दो, भोग भोगो और यज्ञ करो, फिर मुनि बन जाना ।'

३९. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४० 'जो मनुष्य प्रति मास दस लाख गायों का दान देता है उसके लिए भी संयम ही श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे ।'

४१ इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

४२ 'हे मनुजाधिप ! तुम गार्हस्थ्य को छोड़ कर दूसरे आश्रम (संन्यास) की इच्छा करते हो, यह उचित नहीं । तुम यहीं रहकर पौषध में रत बनो— अणुव्रत, तप आदि का पालन करो ।

४३ यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४४ 'जो अविवेकी मनुष्य मास-मास की तपस्या के अनन्तर कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करे तो भी वह सु-आख्यात धर्म (सम्यक्-चारित्र सम्पन्न मुनि) की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता ।

४५ इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

४६ 'हे क्षत्रिय ! अभी तुम चाँदी, सोना, मणि, मोती, काँसे के बर्तन, वस्त्र, वाहन और भण्डार की वृद्धि करो, फिर मुनि बन जाना ।

४७ यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४८ 'कदाचित् सोने और चाँदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत हो जाएँ, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है ।

४९ पृथ्वी, चावल, जौ, सोना और पशु—ये सब एक की इच्छापूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं है यह जान कर तप का आचरण करे ।'

५० यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

५१ 'हे पार्थिव ! आश्चर्य है कि तुम इस अभ्युदय-काल में सहज प्राप्त भोगों का त्याग कर रहे हो और अप्राप्त काम भोगों की इच्छा कर रहे हो—इस प्रकार तुम अपने संकल्प से ही प्रताड़ित हो रहे हो ।

५२. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

५३. 'काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं। काम-भोग की इच्छा करने वाले, उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

५४. 'मनुष्य क्रोध से अधोगति में जाता है। मान से अधम गति होती है। माया से सुगति का विनाश होता है। लोभ से दोनों प्रकार का—ऐहिक और पारलौकिक—भय होता है।'

५५ देवेन्द्र ने ब्राह्मण का रूप छोड़, इन्द्र रूप में प्रकट हो नमि राजर्षि की वन्दना की और इन मधुर शब्दों में स्तुति करने लगा—

५६. 'हे राजर्षि! आश्चर्य है तुमने क्रोध को जीता है! आश्चर्य है तुमने मान को पराजित किया है! आश्चर्य है तुमने माया को दूर किया है! आश्चर्य है तुमने लोभ को वश में किया है!

५७. 'अहो! उत्तम है तुम्हारा आर्जव! अहो! उत्तम है तुम्हारा मार्दव! अहो! उत्तम है तुम्हारी क्षमा! अहो! उत्तम है तुम्हारी निर्लोभता!

५८. 'भगवन्! तुम इस लोक में भी उत्तम हो और परलोक में भी उत्तम होओगे। तुम कर्म-रज से मुक्त होकर लोक के सर्वोत्तम स्थान मोक्ष को प्राप्त करोगे।'

५९. इस प्रकार इन्द्र ने उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति की और प्रदक्षिणा करते हुए बार-बार वन्दना की।

६०. इसके पश्चात् मुनिवर नमि के चक्र और अंकुश से चिह्नित चरणों में वन्दना कर ललित और चपल कुण्डल एवं मुकुट को धारण करने वाला इन्द्र आकाश मार्ग से चला गया।

६१. नमि राजर्षि ने अपनी आत्मा को नमा लिया – संयम के प्रति समर्पित कर दिया। वे साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी धर्म से विचलित नहीं हुए और गृह तथा वैदेही (मिथिला) को त्याग कर श्रामण्य में उपस्थित हो गये।

६२. संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष इसी प्रकार करते हैं। वे भोगों से निवृत्त होते हैं जैसे कि नमि राजर्षि हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दसवाँ अध्ययन

द्रुमपत्रक

१ रात्रियाँ बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पान जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२ कुश की नोक पर लटकते हुए ओस बिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है वैसे ही मनुष्य जीवन की स्थिति है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३ यह आयुष्य क्षण भंगुर है। यह जीवन विघ्नों से भरा हुआ है, इसलिए हे गौतम ! तू पूर्व-संचित कर्म रज को प्रकम्पित कर। क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

४ सब प्राणियों को चिरकाल तक भी मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ है। कर्म के विपाक तीव्र होते हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

५ पृथ्वी-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक असंख्य-काल तक वहीं रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

६ अप्-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असंख्य काल तक वहीं रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

७ तैजस्-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक असंख्य काल तक वहीं रह जाता है इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

८ वायु-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से अधिक असंख्य काल तक वहीं रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

९. वनस्पति-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक दुरन्त अनन्त काल तक वहीं रह जाता है इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१० द्वीन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक संख्येय-काल तक वहीं रह जाता है इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

११. त्रीन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक संख्येय-काल तक वहीं रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

१२. चतुरिन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक संख्येय-काल तक वहीं रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

१३. पंचेन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक सात-आठ जन्म-ग्रहण तक वहीं रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

१४. देव और नरक-योनि में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक एक-एक जन्म-ग्रहण तक वहीं रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

१५. इस प्रकार प्रमाद-बहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा जन्म-मृत्युमय संसार में परिभ्रमण करता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

१६. मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। उसके मिलने पर भी आर्य देश में जन्म पाना और भी दुर्लभ है । बहुत सारे लोग मनुष्य होकर भी दस्यु और म्लेच्छ होते हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

१७. आर्य देश में जन्म मिलने पर भी पांचों इन्द्रियों से पूर्ण स्वस्थ होना दुर्लभ है । बहुत सारे लोग इन्द्रियहीन दीख रहे हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

१८. पांचों इन्द्रियां पूर्ण स्वस्थ होने पर भी उत्तम धर्म की श्रुति दुर्लभ है । बहुत सारे लोग कुतीर्थिकों की सेवा करने वाले होते हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

१९. उत्तम धर्म की श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा होना और अधिक दुर्लभ है । बहुत सारे लोग मिथ्यात्व का सेवन करने वाले होते हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

२०. उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण करनेवाले दुर्लभ है । इस लोक में बहुत सारे लोग काम-गुणों में मूर्च्छित होते हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

२१. तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और श्रोत्र का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर ।

२२ तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और चक्षु का पूर्व-वर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२३ तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और घ्राण का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२४ तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और जिह्वा का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२५. तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है केश सफेद हो रहे हैं और स्पर्श का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२६ तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है केश सफेद हो रहे हैं और सब प्रकार का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२७ पित्त रोग, फोड़ा-फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्र-घाती रोग शरीर का स्पर्श करते हैं जिससे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट होता है इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२८ जिस प्रकार शरद्-ऋतु का कुमुद (रक्त-कमल) जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन। हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२९. तू धन और पत्नी का त्याग कर तू अनगार वृत्ति के लिए घर से निकला है। वमन किये हुए काम भोगों को फिर से मत पी। हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३० मित्र, बान्धव और विपुल धन राशि को छोड़ कर फिर से उनकी गवेषणा मत कर। हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३१ "आज जिन नहीं दीख रहे हैं जो मार्ग-दर्शक हैं वे एक मत नहीं हैं"—अगली पीढ़ियों को इस कठिनाई का अनुभव होगा, किन्तु अभी मेरी उपस्थिति में तुझे पार ले जाने वाला (न्यायपूर्ण) पथ प्राप्त है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३२. काँटों से भरे मार्ग को छोड़ कर तू विशाल-पथ पर चला आया है। दृढ़ निश्चय से उसी मार्ग पर चल। हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३३. बलहीन भार-वाहक की भाँति तू विषम-मार्ग में मत चले जाना। विषम-मार्ग में जानेवाले को पछतावा होता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३४. तू महान् समुद्र को तैर गया, अब तीर के निकट पहुँच कर क्यों खड़ा है? उसके पार जाने के लिए जल्दी कर। हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३५. हे गौतम! तू क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर उस सिद्धि-लोक को प्राप्त होगा जो क्षेम, शिव और अनुत्तर है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३६. तू गाँव में या नगर में संयत, बुद्ध और उपशान्त होकर विचरण कर, शान्ति-मार्ग को बढ़ा। हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३७. अर्थ और पद से उपशोभित एवं सुकथित भगवान् की वाणी को सुन कर राग और द्वेष का छेदन कर गौतम सिद्धि गति को प्राप्त हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

ग्यारहवाँ अध्ययन

बहुश्रुत-पूजा

१ जो संयोग से मुक्त है, जो अनगार है, जो भिक्षु है, उसका मैं क्रमशः आचार कहूँगा। मुझे सुनो।

२. जो विद्याहीन है, विद्यावान् होते हुए भी जो अभिमानी है, जो सरस आहार में लुब्ध है, जो अजितेन्द्रिय है जो बार-बार असम्बद्ध बोलता है जो अविनीत है वह अबहुश्रुत कहलाता है।

३ मान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य—इन पाँच स्थानों (हेतुओं) से शिक्षा प्राप्त नहीं होती।

४ आठ स्थानों (हेतुओं) से व्यक्ति को शिक्षा-शील कहा जाता है—(१) जो हास्य नहीं करता (२) जो सदा इन्द्रिय और मन का दमन करता है (३) जो मर्म-प्रकाशन नहीं करता—

५. (४) जो चरित्र से हीन नहीं होता (५) जिसका चरित्र दोषों से कलुषित नहीं होता (६) जो रसों से अति लोलुप नहीं होता (७) जो क्रोध नहीं करता और (८) जो सत्य में रत रहता है उसे शिक्षा-शील कहा जाता है।

६ चौदह स्थानों (हेतुओं) में वर्तन करने वाला संयमी अविनीत कहा जाता है। वह निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

७ (१) जो बार-बार क्रोध करता है (२) जो क्रोध को टिका कर रखता है (३) जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है (४) जो श्रुत प्राप्त कर मद करता है—

८ (५) जो किसी की स्खलना होने पर उसका तिरस्कार करता है (६) जो मित्रों पर कुपित होता है (७) जो अत्यन्त प्रिय मित्र की भी एकान्त में बुराई करता है—

९ (८) जो असंबद्ध भाषी है (९) जो द्रोही है (१०) जो अभिमानी है (११) जो सरस आहार आदि में लुब्ध है (१२) जो अजितेन्द्रिय है (१३) जो असंविभागी है और (१४) जो अप्रीतिकर है—वह अविनीत कहलाता है।

१०. पन्द्रह स्थानों (हेतुओं) से सुविनीत कहलाता है—(१) जो नम्र व्यवहार करता है (२) जो चपल नहीं होता (३) जो मायावी नहीं होता (४) जो कुतूहल नहीं करता—

११ (५) जो किसी का तिरस्कार नहीं करता (६) जो क्रोध को टिका कर नहीं रखता (७) जो मित्रभाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञ होता है (८) जो श्रुत प्राप्त कर मद नहीं करता—

१२. जो स्खलना होने पर किसी का तिरस्कार नहीं करता (१०) जो मित्रों पर क्रोध नहीं करता (११) जो अप्रिय मित्र की भी एकान्त में प्रशंसा करता है—

१३. (१२) जो कलह और हाथापाई का वर्जन करता है (१३) जो कुलीन होता है (१४) जो लज्जावान् होता है और (१५) जो प्रतिसंलीन[1] होता है—वह बुद्धिमान् मुनि विनीत कहलाता है।

१४. जो सदा गुरु-कुल में वास करता है, जो समाधियुक्त होता है, जो उपधान[2] करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है—वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

१५. जिस प्रकार शङ्ख में रखा हुआ दूध दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत—दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होते हैं।

१६. जिस प्रकार कम्बोज के घोड़ों में से कन्थक घोड़ा शील आदि गुणों से आकीर्ण और वेग से श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं में बहुश्रुत श्रेष्ठ होता है।

१७. जिस प्रकार जातिमान् अश्व पर चढ़ा हुआ दृढपराक्रमी शूर दोनों ओर बजने वाले वाद्यों के घोष से अजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अपने आसपास होने वाले स्वाध्याय-घोष से अजेय होता है।

१८. जिस प्रकार हथिनियों से परिवृत साठ वर्ष का बलवान् हाथी किसी से पराजित नहीं होता, उसी प्रकार बहुश्रुत दूसरों से पराजित नहीं होता।

---

१. प्रतिसंलीन—इन्द्रिय और मन का संगोपन करने वाला।
२. उपधान—देखें २/४३ का टिप्पण।

१९ जिस प्रकार तीक्ष्ण सींग और अत्यन्त पुष्ट स्कन्ध वाला बैल यूथ का अधिपति बन सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत आचार्य बन कर सुशोभित होता है।

२० जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढ़ा वाला पूर्ण युवा और दुष्पराजेय सिंह आरण्य-पशुओं में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अन्य तीर्थिकों में श्रेष्ठ होता है।

२१ जिस प्रकार शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वासुदेव अबाधित बल वाला योद्धा होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अबाधित बल वाला होता है।

२२ जिस प्रकार महान् ऋद्धिशाली, चतुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत चतुर्दश पूर्वधर होता है।

२३ जिस प्रकार सहस्रचक्षु, वज्रपाणि और पुरों का विदारण करने वाला शक्र देवों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत दैवी सम्पदा का अधिपति होता है।

२४ जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने वाला उगता हुआ सूर्य तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है उसी प्रकार बहुश्रुत तप के तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है।

२५ जिस प्रकार नक्षत्र-परिवार से परिवृत ग्रहपति चन्द्रमा पूर्णिमा को परिपूर्ण होता है उसी प्रकार साधुओं के परिवार से परिवृत बहुश्रुत सकल कलाओं से परिपूर्ण होता है।

२६ जिस प्रकार सामाजिकों (समुदाय वृत्ति वालों) का कोष्ठागार सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत नाना प्रकार के श्रुत से परिपूर्ण होता है।

२७ जिस प्रकार अनादृत देव का आश्रय सुदर्शना नाम का जम्बू वृक्ष सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

२८ जिस प्रकार नीलवान् पर्वत से निकल कर समुद्र में मिलने वाली सीता नदी सब नदियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

२९ जिस प्रकार अतिशय महान् और अनेक प्रकार की औषधियों से दीप्त मन्दर पर्वत सब पर्वतों में श्रेष्ठ है उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

३० जिस प्रकार अक्षय जल वाला स्वयंभूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

बारहवाँ अध्ययन

हरिकेशीय

१ चाण्डाल-कुल में उत्पन्न, ज्ञान आदि उत्तम गुणों को धारण करने वाला, धर्म-अधर्म का मनन करने वाला हरिकेशबल नामक जितेन्द्रिय भिक्षु था।

२ वह ईर्या, एषणा, भाषा, उच्चार, आदान-निक्षेप — इन समितियों में सावधान था, संयमी और समाधिस्थ था।

३ वह मन, वचन और काया से गुप्त और जितेन्द्रिय था। वह भिक्षा लेने के लिए यज्ञ-मण्डप में गया, जहाँ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे।

४ वह तप से सूख गया था। उसके उपधि और उपकरण जीर्ण और मलिन थे। उसे आते देख, वे ब्राह्मण हँसे।

५ जाति-मद से मत्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और अज्ञानी ब्राह्मणों ने परस्पर इस प्रकार कहा—

६ "बीभत्स रूप वाला, काला, विकराल और बड़ी नाक वाला अधनंगा पांशु-पिशाच सा गले में चिथड़ा डाले हुए वह कौन आ रहा है?

७ "ओ अदर्शनीय मूर्ति! तुम कौन हो? किस आशा से यहाँ आए हो? अधनंगे तुम पांशु-पिशाच (भूत) से लग रहे हो। जाओ, आँखों से परे चले जाओ! यहाँ क्यों खड़े हो?"

८ उस समय महामुनि हरिकेशबल की अनुकम्पा करने वाला तिन्दुक वृक्ष का वासी यक्ष अपने शरीर का गोपन कर मुनि के शरीर में प्रवेश कर इस प्रकार बोला—

९ "मैं श्रमण हूँ। संयत हूँ। ब्रह्मचारी हूँ। धन, पचन-पाचन और परिग्रह से विरत हूँ। यह भिक्षा का काल है। मैं सहज निष्पन्न भोजन पाने के लिए यहाँ आया हूँ।

१० आपके यहाँ पर यह बहुत सा भोजन दिया जा रहा है, खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है। मैं भिक्षाजीवी हूँ, यह आपको ज्ञात होना चाहिए। अच्छा ही है मुझे बचा-खुचा अन्न इस तपस्वी को मिल जाए।"

११. —(सोमदेव) "यहाँ जो भोजन बना है, वह केवल ब्राह्मणों के लिए ही बना है। वह एक-पाक्षिक है — अब्राह्मण को अदेय है। ऐसा अन्न-पान हम तुम्हें नहीं देंगे, फिर यहाँ क्यों खड़े हो?"

१२. —(यक्ष) "अच्छी उपज की आशा से किसान जैसे ऊँची भूमि में बीज बोते हैं, इसी श्रद्धा से मुझे दान दो, पुण्य की आराधना करो। यह क्षेत्र है, बीज खाली नहीं जाएगा।"

१३. —(सोमदेव) "जहाँ बोए हुए सारे के सारे बीज उग जाते हैं, वे क्षेत्र इस लोक में हमें ज्ञात हैं। जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र हैं।"

१४. —(यक्ष) "जिनमें क्रोध है, मान है, हिंसा है, झूठ है, चोरी है और परिग्रह है—वे ब्राह्मण जाति-विहीन, विद्या-विहीन और पाप-क्षेत्र हैं।

१५. "हे ब्राह्मणो! इस संसार में तुम केवल वाणी का भार ढो रहे हो। वेदों को पढ़ कर भी उनका अर्थ नहीं जानते। जो मुनि उच्च और नीच घरों में भिक्षा के लिए जाते हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र हैं।"

१६ —(सोमदेव) "ओ! अध्यापकों के प्रतिकूल बोलने वाले साधु! हमारे समक्ष तू क्या बढ़-चढ़ कर बोल रहा है? हे निर्ग्रन्थ! यह अन्न-पान भले ही सड़ कर नष्ट हो जाए किन्तु तुझे नहीं देंगे।"

१७. —(यक्ष) "मैं समितियों से समाहित, गुप्तियों से गुप्त और जितेन्द्रिय हूँ। यह एषणीय (विशुद्ध) आहार यदि तुम मुझे नहीं दोगे, तो इन यज्ञों का आज तुम्हें क्या लाभ होगा?"

१८. —(सोमदेव) "यहाँ कौन है क्षत्रिय, रसोइया, अध्यापक या छात्र, जो डण्डे और फल से पीट, गलहत्था दे इस निर्ग्रन्थ को यहाँ से बाहर निकाले?"

१९ अध्यापकों का वचन सुन कर बहुत से कुमार उधर दौड़े। वहाँ आ डण्डों, बेंतों और चाबुकों से उस ऋषि को पीटने लगे।

२०. राजा कौशलिक की सुन्दर पुत्री भद्रा यज्ञ-मण्डप में मुनि को प्रताड़ित होते देख क्रुद्ध कुमारों को शान्त करने लगी।

---

१. मुझे ऊँची भूमि और अपने-आप को नीची भूमि मानते हुए तुम।

२१ —(भद्रा) "राजाओं और इन्द्रों से पूजित यह वह ऋषि है, जिसने मेरा त्याग किया। देवता के अभियोग से प्रेरित होकर राजा द्वारा मैं दी गई, किन्तु जिसने मुझे मन से भी नहीं चाहा।

२२ 'यह वही उग्र तपस्वी, महात्मा, जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी है, जिसने मुझे मेरे पिता राजा कौशलिक द्वारा दिये जाने पर भी नहीं चाहा।

२३ 'यह महान् यशस्वी है। अचिन्त्य-शक्ति से सम्पन्न है। घोर व्रती है। घोर पराक्रमी है। इसकी अवहेलना मत करो। यह अवहेलनीय नहीं है। कहीं यह अपने तेज से तुम लोगों को भस्मसात् न कर डाले।"

२४ सोमदेव पुरोहित की पत्नी भद्रा के सुभाषित वचनों को सुन कर यक्षों ने ऋषि की परिचर्या करने के लिए कुमारों को भूमि पर गिरा दिया।

२५. वे घोर रूप वाले यक्ष आकाश में स्थिर होकर उन छात्रों को मारने लगे। उनके शरीरों को क्षत-विक्षत और उन्हें रुधिर का वमन करते देख भद्रा फिर कहने लगी—

२६ "जो इस भिक्षु का अपमान कर रहे हैं वे नखों से पर्वत खोद रहे हैं, दांतों से लोहे को चबा रहे हैं और पैरों से अग्नि को प्रताड़ित कर रहे हैं।

२७ 'यह महर्षि आशीविष-लब्धि[1] से सम्पन्न है। उग्र तपस्वी है। घोर व्रती और घोर पराक्रमी है। भिक्षा के समय जो भिक्षु का वध कर रहे हैं, वे पतंग-सेना की भांति अग्नि में झंपापात कर रहे हैं।

२८. "यदि तुम जीवन और धन चाहते हो तो सब मिल कर, सिर झुका कर इस मुनि की शरण में आओ। कुपित होने पर यह समूचे संसार को भस्म कर सकता है।"

२९. उन छात्रों के सिर पीठ की ओर झुक गए। उनकी भुजाएं फैल गईं। वे निष्क्रिय हो गए। उनकी आंखें खुली की खुली रह गईं। उनके मुंह से रुधिर निकलने लगा। उनके मुंह ऊपर को हो गए। उनकी जीभें और नेत्र बाहर निकल आए।

३० उन छात्रों को काठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह सोमदेव ब्राह्मण उदास और घबराया हुआ अपनी पत्नी सहित मुनि के पास आ उन्हें प्रसन्न करने लगा—"भन्ते! हमने जो अवहेलना और निन्दा की उसे क्षमा करें।'

---

१ आशीविष-लब्धि—शाप अनुग्रह और निग्रह करने की सामर्थ्य।

३१. "भन्ते ! मूढ़ बालकों ने अज्ञानवश जो आपकी अवहेलना की, उसे आप क्षमा करें। ऋषि महान् प्रसन्नचित्त होते हैं। मुनि कोप नहीं किया करते।"

३२. —(मुनि) "मेरे मन में कोई प्रद्वेष न पहले था, न अभी है और न आगे भी होगा। किन्तु यक्ष मेरा वैयावृत्य कर रहे हैं। इसीलिए ये कुमार प्रताड़ित हुए।"

३३. (सोमदेव) "अर्थ और धर्म को जानने वाले भूतिप्रज्ञ (मंगल-प्रज्ञा युक्त) आप कोप नहीं करते। इसलिए हम सब मिल कर आपके चरणों की शरण ले रहे हैं।

३४. "महाभाग ! हम आपकी अर्चा करते हैं। आपका कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसकी हम अर्चा न करें। आप नाना व्यंजनों से युक्त चावल-निष्पन्न भोजन ले कर खाइए।

३५. "मेरे यहाँ यह प्रचुर भोजन पड़ा है। हमें अनुगृहीत करने के लिए आप कुछ खाएँ।" महात्मा हरिकेशबल ने 'हाँ' भर ली और एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए भक्त-पान लिया।

३६ देवों ने वहाँ सुगन्धित जल, पुष्प और दिव्य-धन की वर्षा की, आकाश में दुन्दुभि बजाई और 'अहो दानम्'—इस प्रकार का घोष किया।

३७. यह प्रत्यक्ष ही तप की महिमा दीख रही है, जाति की कोई महिमा नहीं है। जिसकी ऋद्धि ऐसी महान् है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

३८. —(मुनि) "ब्राह्मणो ! अग्नि का समारम्भ करते हुए तुम बाहर से शुद्धि की क्या माँग कर रहे हो ? जिस शुद्धि की बाहर से माँग कर रहे हो, उसे कुशल लोग सम्यग्दर्शन नहीं कहते।

३९. "दर्भ, यूप (यज्ञ-स्तम्भ), तृण, काष्ठ और अग्नि का उपयोग करते हुए, सन्ध्या और प्रातःकाल में जल का स्पर्श करते हुए, प्राणों और भूतों की हिंसा करते हुए, मन्दबुद्धि वाले तुम बार-बार पाप करते हो।"

४०. —(सोमदेव) "हे भिक्षो ! हम कैसे प्रवृत्त हों ? यज्ञ कैसे करें, जिससे पाप-कर्मों का नाश कर सकें ? यक्ष-पूजित संयत ! आप हमें बताएँ—कुशल पुरुषों ने श्रेष्ठ-यज्ञ का विधान किस प्रकार किया है ?"

४१. —(मुनि) "मन और इन्द्रियों का दमन करने वाले छह जीव-निकाय की हिंसा नहीं करते; असत्य और चौर्य का सेवन नहीं करते; परिग्रह, स्त्री, मान और माया का परित्याग करके विचरण करते हैं।

४२ 'जो पाँच संवरों से सुसंवृत होता है, जो असंयम-जीवन की इच्छा नहीं करता, जो काय का व्युत्सर्ग करता है, जो शुचि है और जो देह का त्याग करता है, वह महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करता है।'

४३ —(सोमदेव) "भिक्षो ! तुम्हारी ज्योति कौन-सी है ? तुम्हारा ज्योति-स्थान (अग्नि-स्थान) कौन-सा है ? तुम्हारी घी डालने की करछियाँ कौन-सी हैं ? तुम्हारे अग्नि को जलाने के कण्डे कौन-से हैं ? तुम्हारे ईंधन और शान्ति-पाठ कौन-से हैं ? और किस होम से तुम ज्योति को हुत करते हो ?

४४ —(मुनि) 'तप ज्योति है। जीव ज्योति-स्थान है। मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति घी डालने की करछियाँ हैं। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे हैं। कर्म ईंधन है। संयम की प्रवृत्ति शान्ति-पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि-प्रशस्त (अहिंसक) होम करता हूँ।'

४५ —(सोमदेव) 'आपका नद कौन-सा है ? आपका शान्ति-तीर्थ कौन-सा है ? आप कहाँ नहा कर कर्म रज धोते हैं ? हे यक्ष-पूजित संयत ! हम आप से जानना चाहते हैं, आप बताइए।'

४६ —(मुनि) 'अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न-लेश्या वाला धर्म मेरा नद है। ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, जहाँ नहा कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्म-रज का त्याग करता हूँ।

४७ 'यह स्नान कुशल पुरुषों द्वारा इष्ट है। यह महा-स्नान है। अतः ऋषियों के लिए यही प्रशस्त है। इस धर्म-नद में नहाए हुए महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम स्थान (मुक्ति) को प्राप्त हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

तेरहवाँ अध्ययन

चित्र-संभूतीय

१. जाति से पराजित हुए सम्भूत ने हस्तिनापुर में निदान[1] (चक्रवर्ती होऊँ—ऐसा संकल्प) किया। वह पद्म-गुल्म नामक विमान में देव बना। वहाँ से च्युत होकर चुलनी की कोख में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुआ।

२. सम्भूत काम्पिल्य नगर में उत्पन्न हुआ। चित्र पुरिमताल में एक विशाल श्रेष्ठि-कुल में उत्पन्न हुआ। वह धर्म सुन प्रव्रजित हो गया।

३. काम्पिल्य नगर में चित्र और सम्भूत दोनों मिले। दोनों ने परस्पर एक दूसरे के सुख-दुःख के विपाक की बात की।

४. महान् ऋद्धि-सम्पन्न और महान् यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने बहुमान पूर्वक अपने भाई से इस प्रकार कहा—

५. "हम दोनों भाई थे—एक दूसरे के वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त और परस्पर हितैषी।

६. "हम दोनों दशार्ण देश में दास, कालिंजर पर्वत पर हरिण, मृत-गंगा के किनारे हंस और काशी देश में चाण्डाल थे।

७. "हम दोनों सौधर्म देवलोक में महान् ऋद्धि वाले देव थे। यह हमारा छठा जन्म है, जिसमें हम एक दूसरे से बिछुड़ गये।"

८. —(मुनि) "राजन्! तू ने निदान-कृत (भोग-प्रार्थना से बद्ध्यमान) कर्मों का चिन्तन किया। उनके फल-विपाक से हम बिछुड़ गये।"

९. —(चक्री) "चित्र! मैंने पूर्व-जन्म में सत्य और शौचमय शुभ अनुष्ठान किये थे। आज मैं उनका फल भोग रहा हूँ। क्या तू भी वैसा ही भोग रहा है?"

---

१. निदान—भोग प्राप्ति के लिए किया जाने वाला संकल्प।

१० —(मुनि) मनुष्यों का सब सुचीर्ण (सुकृत) सफल होता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं होती। मेरी आत्मा उत्तम अर्थ और कामों के द्वारा पुण्य-फल से युक्त है।

११ "सम्भूत! जिस प्रकार तू अपने को महानुभाग-सम्पन्न, महान् ऋद्धिमान और पुण्य फल से युक्त मानता है उसी प्रकार चित्र को भी जान। राजन्! उसके भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति थी।

१२ "स्थविरों ने जन-समुदाय के बीच अल्पाक्षर और महान् अर्थ वाली जो गाथा कही, जिसे शील और गुण से सम्पन्न भिक्षु बड़े यत्न से अर्जित करते हैं उसे सुन कर मैं श्रमण हो गया।"

१३ —(चक्री) "उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा—ये प्रधान प्रासाद तथा दूसरे अनेक रम्य प्रासाद हैं। पांचाल देश की विशिष्ट वस्तुओं से युक्त और प्रचुर एवं विविध हिरण्य आदि से पूर्ण यह घर है—इसका तू उपभोग कर।

१४ "हे भिक्षु! तू नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ नारी-जनों को परिवृत करता हुआ इन भोगों को भोग। यह मुझे रुचता है। प्रव्रज्या वास्तव में ही कष्टकर है।"

१५ धर्म में स्थित और उस (राजा) का हित चाहने वाला चित्र मुनि ने पूर्व भव के स्नेह-वश अपने प्रति अनुराग रखने वाले काम-गुणों में आसक्त राजा से यह वचन कहा—

१६ "सब गीत विलाप हैं, सब नाट्य विडम्बना हैं, सब आभरण भार हैं और सब काम दुःखकर हैं।

१७ "राजन्! अज्ञानियों के लिए रमणीय और दुःखकर काम-गुणों में वह सुख नहीं है जो सुख कामों से विरक्त, शील और गुणों में रत तपोधन भिक्षु को प्राप्त होता है।

१८ "नरेन्द्र! मनुष्यों में चाण्डाल जाति अधम है। उसमें हम दोनों उत्पन्न हो चुके हैं। वहाँ हम चाण्डालों की बस्ती में रहते थे और सब लोग हम से घृणा करते थे।

१९ "लोगों में दुर्गंछनीय चाण्डाल जाति में जन्म लिया और चाण्डालों की बस्तियों में निवास किया। सब लोग हमसे घृणा करते थे। इस जन्म में जो उच्चता प्राप्त हुई है वह पूर्व कृत शुभ कर्मों का फल है।

२० उसी के कारण वह तू अब महानुभाग-सहित महान्, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल युक्त राजा बना है। इसलिए तू अशाश्वत भोगों को छोड़ कर चारित्र धर्म की आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण कर।

३३ "तुझ में भोगों को त्यागने की बुद्धि नहीं है। तू आरम्भ और परिग्रह में आसक्त है। मैंने व्यर्थ ही इतना प्रलाप किया। तुझे आमन्त्रित किया। राजन ! अब मैं जा रहा हूँ।"

३४ पंचाल जनपद के राजा ब्रह्मदत्त ने मुनि के वचन का पालन नहीं किया। वह अनुत्तर काम-भोगों का भोग कर अनुत्तर नरक में गया।

३५ कामना से विरक्त और प्रधान चरित्र-तप वाला महर्षि चित्र अनुत्तर संयम का पालन कर अनुत्तर सिद्धि-गति को प्राप्त हुआ।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

चौदहवाँ अध्ययन

इषुकारीय

१. पूर्व-जन्म में देवता होकर एक ही विमान में रहने वाले कुछ जीव देवलोक से च्युत हुए। उस समय इषुकार नाम का एक नगर था—प्राचीन, प्रसिद्ध, समृद्धिशाली और देवलोक के समान।

२. उन जीवों के अपने पूर्वकृत पुण्य-कर्म बाकी थे। फलस्वरूप वे इषुकार नगर के उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए। संसार के भय से खिन्न होकर उन्होंने भोगों को छोड़ा और वे जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए।

३. दोनों पुरोहित कुमार, पुरोहित, उनकी पत्नी यशा, विशाल कीर्ति वाला इषुकार राजा और उसकी रानी कमलावती—ये छहों व्यक्ति मनुष्य-जीवन प्राप्त कर जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए।

४-५. ब्राह्मण के योग्य यज्ञ आदि करने वाले पुरोहित के दोनों प्रिय पुत्रों ने एक बार निर्ग्रन्थ को देखा। उन्हें पूर्व-जन्म की स्मृति हुई और भली-भाँति आचरित तप और संयम की स्मृति जाग उठी। वे जन्म, जरा और मृत्यु के भय से अभिभूत हुए। उनका चित्त मोक्ष की ओर खिंच गया। संसार-चक्र से मुक्ति पाने के लिए वे काम-गुणों[1] से विरक्त हो गए।

६. उनकी मनुष्य और देवता सम्बन्धी काम-भोगों में आसक्ति जाती रही। मोक्ष की अभिलाषा और धर्म की श्रद्धा से प्रेरित होकर पिता के पास आए और इस प्रकार कहने लगे—

७. "हमने देखा है कि यह मनुष्य-जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है। इसलिए घर में हमें कोई आनन्द नहीं है। हम मुनि-चर्या को स्वीकार करने के लिए आप की अनुमति चाहते हैं।"

८. उनके पिता ने उन कुमार मुनियों की तपस्या में बाधा उत्पन्न करने वाली बातें कहीं—"पुत्रो! वेदों को जानने वाले इस प्रकार कहते हैं कि जिनको पुत्र नहीं होता उनकी गति नहीं होती।"

---

१. काम-गुण—कामनाओं को उत्तेजित करने वाले विषय।

९. "पुत्रो ! इसलिए वेदों को पढ़ो । ब्राह्मणों को भोजन कराओ । स्त्रियों के साथ भोग करो । पुत्रों को उत्पन्न करो । उनका विवाह कर, घर का भार सौंप फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि हो जाना ।"

१०-११ दोनों कुमारों ने सोच विचार पूर्वक उस पुरोहित को—जिसका मन और शरीर, आत्म-गुण रूपी ईंधन और मोह रूपी पवन से अत्यन्त प्रज्वलित शोकाग्नि से, संतप्त और परितप्त हो रहा था, जिसका हृदय वियोग की आशंका से अतिशय छिन्न हो रहा था, जो एक एक कर अपना अभिप्राय अपने पुत्रों को समझा रहा था, उन्हें धन और क्रम प्राप्त काम भोगों का निमंत्रण दे रहा था—ये वाक्य कहे—

१२ "वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते । ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे नरक में ले जाते हैं । औरस पुत्र भी त्राण नहीं होते । इसलिए आपने जो कहा उसका अनुमोदन कौन कर सकता है ?

१३ "ये काम-भोग क्षण-भर सुख और चिरकाल दुःख देने वाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं ।

१४ "जिसे कामनाओं से मुक्ति नहीं मिली वह पुरुष अतृप्ति की अग्नि से संतप्त होकर दिन रात परिभ्रमण करता है । दूसरों के लिए प्रमत्त होकर धन की खोज में लगा हुआ वह जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है ।

१५ "यह मेरे पास है और यह नहीं है यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला (काल) उठा लेता है । इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाय ?"

१६ "जिसके लिए तप किया जाता है वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियाँ, स्वजन और इन्द्रियों के विषय तुम्हें यहीं प्राप्त हैं फिर किसलिए तुम श्रमण होना चाहते हो ?" —पिता ने कहा ।

१७ पुत्र बोले—"पिता ! जहाँ धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है वहाँ धन, स्वजन और इन्द्रिय विषय का क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं । हम गुण-समूह से सम्पन्न श्रमण होंगे, प्रतिबन्ध-मुक्त होकर गाँवों और नगरों में विहार करने वाले और भिक्षा लेकर जीवन चलाने वाले ।"

१८ "पुत्रो ! जिस प्रकार अरणी में अविद्यमान अग्नि उत्पन्न होती है, दूध में घी और तिल में तेल पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव उत्पन्न होते हैं, और नष्ट हो जाते हैं । शरीर का नाश हो जाने पर उनका अस्तित्व नहीं रहता" —पिता ने कहा ।

१९. कुमार बोले—"पिता ! आत्मा अमूर्त है इसलिए वह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह अमूर्त है इसलिए नित्य है। यह निश्चय है कि आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और बन्धन ही संसार का हेतु है—ऐसा कहा है।

२०. "हम धर्म को नहीं जानते थे तब घर में रहे हमारा पालन होता रहा और मोह-वश हमने पाप-कर्म का आचरण किया। किन्तु अब फिर पाप कर्म का आचरण नहीं करेंगे।

२१. "यह लोक पीड़ित हो रहा है, चारों ओर से घिरा हुआ है, अमोघा आ रही है। इस स्थिति में हमें घर में सुख नहीं मिल रहा है।"

२२. "पुत्रो ! यह लोक किससे पीड़ित है ? किससे घिरा हुआ है ? अमोघा किसे कहा जाता है ? मैं जानने के लिए चिन्तित हूँ"—पिता ने कहा।

२३. कुमार बोले—"पिता ! आप जानें कि यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है और रात्रि को अमोघा कहा जाता है।

२४. "जो-जो रात बीत रही है, वह लौट कर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती हैं।

२५. "जो-जो रात बीत रही है, वह लौट कर नहीं आती। धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल होती हैं।"

२६. "पुत्रो ! पहले हम सब एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतों का पालन करें फिर तुम्हारा यौवन बीत जाने के बाद घर-घर से भिक्षा लेते हुए विहार करेंगे"—पिता ने कहा।

२७. पुत्र बोले—"पिता ! कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मौत के मुँह से बच कर पलायन कर सके और जो जानता हो—मैं नहीं मरूँगा।

२८. "हम आज ही उस मुनि-धर्म को स्वीकार कर रहे हैं, जहाँ पहुँच कर फिर जन्म लेना न पड़े। भोग हमारे लिए अप्राप्त नहीं है—हम उन्हें अनेक बार प्राप्त कर चुके हैं। राग-भाव को दूर कर श्रद्धा पूर्वक श्रेय की प्राप्ति के लिए हमारा प्रयत्न युक्त है।"

२९. "पुत्रों के चले जाने के बाद मैं घर में नहीं रह सकता। हे वाशिष्ठि ! अब मेरे भिक्षाचर्या का काल आ चुका है। वृक्ष शाखाओं से समाधि को प्राप्त होता है। उनके कट जाने पर लोग उसे ठूंठ कहते हैं।

३० "बिना पंख का पक्षी, रण-भूमि में सेना रहित राजा और जल-पोत पर धन रहित व्यापारी जैसा असहाय होता है, पुत्रों के चले जाने पर मैं भी वैसा ही हो जाता हूँ।"

३१ वाशिष्ठी ने कहा — ये सुसंस्कृत और प्रचुर शृंगार रस से परिपूर्ण इन्द्रिय विषय, जो तुम्हें प्राप्त हैं, उन्हें अभी हम खूब भोगें। उसके बाद हम मोक्ष-मार्ग का स्वीकार करेंगे।"

३२ पुरोहित ने कहा — "हे भवति! हम रसों का भोग चुके हैं, वय हमें छोड़ता चला जा रहा है। मैं असंयम-जीवन के लिए भोगों को नहीं छोड़ रहा हूँ। लाभ अलाभ और सुख-दुःख को समदृष्टि से देखता हुआ मैं मुनि धर्म का आचरण करूँगा।"

३३ वाशिष्ठी ने कहा — "प्रतिस्रोत में बहने वाले बूढ़े हंस की तरह तुम्हें पीछे अपने बन्धुओं को याद करना न पड़े, इसलिए मेरे साथ भोगों का सेवन करो। यह भिक्षाचर्या और ग्रामानुग्राम विहार सचमुच दुःखदायी है।"

३४ "हे भवति! जैसे साँप अपने शरीर की केंचुली को छोड़ मुक्त-भाव से चलता है वैसे ही पुत्र भोगों को छोड़ कर चले जा रहे हैं। पीछे मैं अकेला क्यों रहूँ? उनका अनुगमन क्यों न करूँ?

३५ "जैसे रोहित मच्छ जर्जरित जाल को काट कर बाहर निकल जाते हैं वैसे ही उठाए हुए भार को वहन करने वाले प्रधान तपस्वी और धीर पुरुष काम भोगों को छोड़ कर भिक्षाचर्या को स्वीकार करते हैं।"

३६ वाशिष्ठी ने कहा — "जैसे क्रौंच पक्षी और हंस बहेलियों द्वारा बिछाए हुए जालों को काट कर आकाश में उड़ जाते हैं वैसे ही मेरे पुत्र और पति जा रहे हैं। पीछे मैं अकेली क्यों रहूँ? उनका अनुगमन क्यों न करूँ?"

३७ पुरोहित अपने पुत्र और पत्नी के साथ भोगों को छोड़ कर प्रव्रजित हो चुका है, यह सुन राजा ने उसके प्रचुर और प्रधान धन धान्य आदि को लेना चाहा तब महारानी कमलावती ने बार-बार कहा —

३८ "राजन्! वमन खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती। तुम ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हो — यह क्या है?

३९ "यदि समूचा जगत् तुम्हें मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो भी वह तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा और वह तुम्हें त्राण भी नहीं दे सकेगा।

४०. "राजन् ! इन मनोरम काम-भोगों को छोड़ कर तुम्हें जब कभी मरना होगा। हे नरदेव ! एक धर्म ही त्राण है। उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु त्राण नहीं दे सकती।

४१. "जैसे पक्षिणी पिंजड़े मे आनन्द नहीं मानती, वैसे ही मुझे इस बंधन मे आनन्द नहीं मिल रहा है। मैं स्नेह के जाल को तोड़ कर अकिंचन, सरल क्रिया वाली, विषय-वासना से दूर और परिग्रह एवं हिंसा के दोषों से मुक्त हो कर मुनि-धर्म का आचरण करूँगी।

४२. "जैसे दवाग्नि लगी हुई है, अरण्य मे जीव-जन्तु जल रहे हैं, उन्हें देख राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरे जीव प्रमुदित होते हैं।

४३. "इसी प्रकार काम-भोगों मे मूर्च्छित होकर हम मूढ लोग यह नहीं समझ पाते कि यह समूचा संसार राग-द्वेष की अग्नि मे जल रहा है।

४४. "विवेकी पुरुष भोगों को भोग कर फिर उन्हे छोड़ वायु की तरह अप्रतिबद्ध-विहार करते हैं और वे स्वेच्छा से विचरण करने वाले पक्षियों की तरह प्रसन्नतापूर्वक स्वतंत्र विहार करते है।

४५. "आर्य ! जो काम-भोग अपने हाथों मे आए हुए हैं और जिनको हमने नियंत्रित कर रखा है, वे कूद-फांद कर रहे हैं। हम कामनाओं में आसक्त बने हुए हैं किन्तु अब हम भी वैसे ही होंगे, जैसे कि अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ भृगु हुए हैं।

४६. "जिस गीध के पास मांस होता है उस पर दूसरे पक्षी झपटते हैं और जिसके पास मांस नहीं होता उस पर नहीं झपटते—यह देख कर मैं आमिष (धन, धान्य आदि) को छोड़, निरामिष होकर विचरूंगी।

४७. "गीध की उपमा से काम-भोगों को संसार-वर्धक जान कर मनुष्य को इनसे इसी प्रकार शंकित होकर चलना चाहिए जिस प्रकार गरुड के सामने सांप शंकित होकर चलता है।

४८. "जैसे बन्धन को तोडकर हाथी अपने स्थान (विंध्याटवी) में चला जाता है, वैसे ही हमे अपने स्थान (मोक्ष) मे चले जाना चाहिए। हे महाराज इषुकार ! यह तथ्य है, इसे मैंने ज्ञानियों से सुना है।"

४९. राजा और रानी विपुल राज्य और दुस्त्यज काम-भोगों को छोड़ निर्विषय, निरामिष, निःस्नेह और निष्परिग्रह हो गए।

५०. धर्म को सम्यक् प्रकार से जान, आकर्षक भोग-विलास को छोड, वे तीर्थङ्कर के द्वारा उपदिष्ट घोर तपश्चर्या को स्वीकार कर संयम मे घोर पराक्रम करने लगे।

५१ इस प्रकार वे सब क्रमशः बुद्ध होकर धर्म-परायण, जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न बन गए तथा दुःख के अन्त की खोज में लग गए।

५२-५३ जिनकी आत्मा पूर्व-जन्म में कुशल-भावना से भावित थी वे सब—राजा, रानी, ब्राह्मण पुरोहित, ब्राह्मणी और दोनों पुरोहित कुमार अर्हत् के शासन में आकर दुःख का अन्त पा गए—मुक्त हो गए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पन्द्रहवाँ अध्ययन

सभिक्षुक

१. 'धर्म को स्वीकार कर मुनि-व्रत का आचरण करूँगा'—जो ऐसा संकल्प करता है, जो दूसरे भिक्षुओं के साथ रहता है, जिसका अनुष्ठान ऋजु है, जो वासना के संकल्प का छेदन करता है, जो परिचय का त्याग करता है, जो काम-भोगों की अभिलाषा को छोड़ चुका है, जो तप आदि का परिचय दिए बिना भिक्षा की खोज करता है, जो अप्रतिबद्ध विहार करता है—वह भिक्षु है।

२. जो रात्रि-भोजन या रात्रि-विहार नहीं करता, जो निर्दोष आहार से जीवन-यापन करता है, जो विरत है, आगम को जानने वाला और आत्म-रक्षक है, जो प्राज्ञ है, जो परीषहों को जीतने वाला और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो किसी भी वस्तु में मूर्च्छित नहीं होता—वह भिक्षु है।

३. जो धीर मुनि कठोर वचन और ताड़ना को अपने कर्मों का फल जान कर शान्त भाव से विचरण करता है, जो प्रशस्त है, जो सदा आत्मा का संवरण किये रहता है, जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है, जो सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है।

४. निकृष्ट शयन और आसन का सेवन करके तथा सर्दी, गर्मी, डांस और मच्छरों की त्रास को सहन करके भी जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है, जो सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है।

५. जो सत्कार, पूजा और वन्दना की इच्छा नहीं करता वह प्रशंसा की इच्छा कैसे करेगा? जो संयत, सुव्रत, तपस्वी, दूसरे भिक्षुओं के साथ रहने वाला और आत्म-गवेषक है—वह भिक्षु है।

६. जिसके संयोग-मात्र से संयम-जीवन छूट जाये और समग्र मोह से बँध जाए वैसे स्त्री या पुरुष की संगति का जो त्याग करता है, जो सदा तपस्वी है, कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है।

७. जो छिन्न (छिद्र-विद्या), स्वर (सप्त-स्वर विद्या), भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तु-विद्या, अंग-विकार और स्वर-विज्ञान—इन विद्याओं के द्वारा आजीविका नहीं करता—वह भिक्षु है।

८ मन्त्र, मूल, विविध प्रकार की आयुर्वेद सम्बन्धी चिन्ता, वमन, विरेचन, धूम-पान की नली, स्नान, आतुर होने पर स्वजन की शरण, चिकित्सा—इनका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है।

९ क्षत्रिय, गण[1], उग्र[2] राजपुत्र ब्राह्मण, भोगिक (सामन्त) और विविध प्रकार के शिल्पी जो होते हैं, उनकी श्लाघा और पूजा नहीं करता किन्तु उसे दोष-पूर्ण जान उसका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है।

१० दीक्षा लेने के पश्चात् जिन गृहस्थों को देखा हो या उससे पहले जो परिचित हों उनके साथ इहलौकिक फल (वस्त्र-पात्र आदि) की प्राप्ति के लिए जो परिचय नहीं करता—वह भिक्षु है।

११ शयन आसन पान, भोजन और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य गृहस्थ न दे तथा कारण विशेष से माँगने पर भी इन्कार हो जाए, उस स्थिति में जो प्रद्वेष न करे—वह भिक्षु है।

१२ गृहस्थों के घर से जो कुछ आहार, पानक और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य प्राप्त कर जो गृहस्थ की मन, वचन और काया से अनुकम्पा नहीं करता—उन्हें आशीर्वाद नहीं देता जो मन, वचन और काया से सुसंवृत होता है—वह भिक्षु है।

१३, ओसामन, जौ का दलिया, ठण्डा बासी आहार कांजी का पानी, जौ का पानी ऐसी नीरस भिक्षा की जो निन्दा नहीं करता, जो सामान्य घरों में भिक्षा के लिए जाता है—वह भिक्षु है।

१४ लोक में देवता, मनुष्य और तिर्यञ्चों के अनेक प्रकार के रौद्र, अति भयकर और अद्भुत शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो नहीं डरता—वह भिक्षु है।

१५ लोक में विविध प्रकार के वादों को जान कर भी जो भिक्षुओं के साथ रहता है, जो संयमी है, जिसे आगम का परम अर्थ प्राप्त हुआ है, जो प्राज्ञ है जो परीषहों को जीतने वाला और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने वाला होता है, जो उपशान्त और किसी को भी अपमानित न करने वाला है—वह भिक्षु है।

१६ जो शिल्प-जीवी नहीं होता, जिसके घर नहीं होता, जिसके मित्र नहीं होते जो जितेन्द्रिय और सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है जिसका कषाय मन्द होता है, जो थोड़ा और निस्सार भोजन करता है जो घर को छोड़ अकेला (राग-द्वेष से रहित हो) विचरता है—वह भिक्षु है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ गण—गणराज्य।
२ उग्र—आरक्षक।

सोलहवाँ अध्ययन

ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान

१. आयुष्मन्! मैंने सुना है, भगवान् (प्रज्ञापक आचार्य) ने ऐसा कहा है—निर्ग्रन्थ प्रवचन मे जो स्थविर (गणधर) भगवान् हुए हैं, उन्होंने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान बतलाये है, जिन्हे सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु सयम, संवर और समाधि का पुनः-पुन. अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियो को उनके विषयो मे बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओ से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे।

२. स्थविर भगवान् ने ब्रह्मचर्य-समाधि के वे कौन से दस स्थान बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु सयम, सवर और समाधि का पुनः-पुन. अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे। इन्द्रियो को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओ से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे?

३. स्थविर भगवान् ने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान बतलाए है, जिन्हे सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु सयम, सवर, और समाधि का पुन-पुन. अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियो को उनके विषयो से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओ से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे। वे इस प्रकार हैं--

४. जो एकान्त शयन और आसन का सेवन करता है वह निर्ग्रन्थ है। जो स्त्री, पशु और नपुसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नही करता वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यो?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्री, पशु और नपुसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन करनेवाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और

आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है इसलिए जो स्त्री, पशु, और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

५. जो केवल स्त्रियों के बीच में कथा नहीं करता वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—केवल स्त्रियों के बीच कथा करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है इसलिए केवल स्त्रियों के बीच में कथा न करे।

६. जो स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठता वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठनेवाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।

७. जो स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर नहीं देखता, उनके विषय में चिन्तन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर देखने वाले और उनके विषय में चिन्तन करनेवाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्रियों के मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर न देखे और उनके विषय में चिन्तन न करे।

८. जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, पर्दे के अन्तर से पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को नहीं सुनता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं— मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अंतर से, पक्की दीवार के अंतर से स्त्रियों के कूजन, रुदन, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को सुनने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को न सुने ।

९. जो गृहवास मे की हुई रति और क्रीड़ा का अनुस्मरण नही करता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होना है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है इसलिए निर्ग्रन्थ गृहवास मे की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण न करे ।

१०. जो प्रणीत आहार नही करता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—प्रणीत पान-भोजन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ प्रणीत आहार न करे ।

११. जो मात्रा से अधिक नही पीता और नही खाता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—मात्रा से अधिक पीने और खाने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ मात्रा से अधिक न पीये और न खाए ।

१२ जो विभूषा नहीं करता—शरीर को नहीं सजाता वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—जिसका स्वभाव विभूषा करने का होता है, जो शरीर को विभूषित किए रहता है, उसे स्त्रियाँ चाहने लगती हैं। पश्चात् स्त्रियों के द्वारा चाहे जानेवाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ विभूषा न करे।

१३ जो शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में आसक्त नहीं होता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में आसक्त होने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न बने। ब्रह्मचर्य की समाधि का यह दसवाँ स्थान है।

यहाँ श्लोक हैं, जैसे—

१ ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मुनि वैसे आलय में रहे जो एकान्त, अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित हो।

२ ब्रह्मचर्य में रत रहनेवाला भिक्षु मन को आह्लाद देने वाली तथा काम-राग बढ़ाने वाली स्त्री-कथा का वर्जन करे।

३ ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के साथ परिचय और बार-बार वार्तालाप का सदा वर्जन करे।

४ ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के चक्षु-ग्राह्य अंग-प्रत्यंग, आकार, बोलने की मनहर-मुद्रा और चितवन को न देखे—देखने का यत्न न करे।

५ ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के श्रोत्र-ग्राह्य कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रन्दन को न सुने—सुनने का यत्न न करे।

६ ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु पूर्व जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, अभिमान और आकस्मिक त्रास का कभी भी अनुचिन्तन न करे।

७. ब्रह्मचर्य मे रत रहने वाला भिक्षु शीघ्र ही काम-वासना को बढाने वाले प्रणीत भक्त-पान का सदा वर्जन करे ।

८. सदा ब्रह्मचर्य मे रत और स्वस्थ चित्त वाला भिक्षु जीवन-निर्वाह के लिए उचित समय में निर्दोष, भिक्षा द्वारा प्राप्त, परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक न खाए ।

९. ब्रह्मचर्य मे रत रहनेवाला भिक्षु विभूषा का वर्जन करे और शरीर की शोभा बढाने वाले केश, दाढी आदि को शृङ्गार के लिए धारण न करे ।

१०. शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के काम-गुणों का सदा वर्जन करे ।

११ (१) स्त्रियों से आकीर्ण आलय,
(२) मनोरम स्त्री-कथा,
(३) स्त्रियों का परिचय,
(४) उनके इन्द्रियों को देखना,

१२. (५) उनके कूजन, रुदन, गीत और हास्य-युक्त शब्दों को सुनना,
(६) भुक्त-भोग और सहावस्थान को याद करना,
(७) प्रणीत पान-भोजन,
(८) मात्रा से अधिक पान-भोजन,

१३. (९) शरीर को सजाने की इच्छा और
(१०) दुर्जय काम-भोग
—ये दस आत्म-गवेषी मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान हैं ।

१४. एकाग्रचित्त वाला मुनि दुर्जय काम-भोगों और ब्रह्मचर्य मे शका उत्पन्न करने वाले पूर्वोक्त सभी स्थानों का सदा वर्जन करे ।

१५. धैर्यवान्, धर्म के रथ को चलाने वाला, धर्म के आराम मे रत, दान्त और ब्रह्मचर्य मे चित्त का समाधान पाने वाला भिक्षु धर्म के आराम मे विचरण करे ।

१६ उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

१५. यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत और अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट है । इसका पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य मे भी होंगे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

सतरहवाँ अध्ययन

पाप-श्रमणीय

१ जो कोई निर्ग्रन्थ धर्म को सुन, दुर्लभतम बोधि-लाभ को प्राप्त कर विनय से युक्त हो प्रव्रजित होता है किन्तु प्रव्रजित होने के पश्चात् स्वच्छन्द-विहारी हो जाता है —

२ (—गुरु के द्वारा अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होने पर वह कहता है—) मुझे रहने का अच्छा उपाश्रय मिल रहा है कपड़ा भी मेरे पास है, खाने पीने को भी मिल जाता है। आयुष्मन्! जो हो रहा है उसे मैं जान लेता हूँ। भन्ते! फिर मैं श्रुत का अध्ययन करके क्या करूंगा?

३ जो प्रव्रजित होकर बार बार नींद लेता है, खा-पीकर आराम से लेट जाता है वह पाप-श्रमण कहलाता है।

४ जिन आचार्य और उपाध्याय ने श्रुत और विनय सिखाया उन्हीं की निन्दा करता है वह विवेक-विकल भिक्षु पाप-श्रमण कहलाता है।

५ जो आचार्य और उपाध्याय के कार्यों की सम्यक् प्रकार से चिन्ता नहीं करता या उनका सम्मान नहीं करता जो अभिमानी होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

६ द्वीन्द्रिय आदि प्राणी तथा बीज और हरियाली का मर्दन करने वाला, असंयमी होते हुए भी अपने-आप को संयमी मानने वाला, पाप-श्रमण कहलाता है।

७ जो बिछौने, पाट, पीठ, आसन और पैर पोंछने के कम्बल का प्रमार्जन किये बिना (तथा देखे बिना) उन पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

८ जो द्रुतगति से चलता है जो बार बार प्रमाद करता है जो प्राणियों को लांघ कर—उनके ऊपर होकर चला जाता है, जो क्रोधी है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

९ जो असावधानी से प्रतिलेखन करता है जो पात्र-कम्बल को जहाँ कहीं रख देता है, इस प्रकार जो प्रतिलेखना में असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१०. जो कुछ भी सुन कर प्रतिलेखना में असावधानी करता है, जो नित्य गुरु का तिरस्कार करता है शिक्षा देने पर उनके सामने बोलने लगता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

११. जो बहुत कपटी, वाचाल, अभिमानी, लालची, इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण न रखनेवाला, भक्त-पान आदि का संविभाग न करने वाला और गुरु आदि से प्रेम न रखने वाला होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१२. जो शान्त हुए विवाद को फिर उभारता है, जो सदाचार से शून्य होता है, जो (कुतर्क) से अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह और कलह में रत होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१३. जो स्थिरासन नहीं होता—बिना प्रयोजन इधर-उधर चक्कर लगाता है, जो हाथ, पैर आदि अवयवों को हिलाता रहता है, जो जहाँ कहीं बैठ जाता है—इस प्रकार आसन (या बैठने) के विषय में जो असावधान होता है वह पाप श्रमण कहलाता है ।

१४. जो सचित्त रज से भरे हुए पैरों का प्रमार्जन किए बिना ही सो जाता है, सोने के स्थान का प्रतिलेखन नहीं करता— इस प्रकार बिछौने (या सोने) के विषय में जो असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१५. जो दूध, दही आदि विकृतियों[1] का बार-बार आहार करता है और तपस्या में रत नहीं रहता, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१६. जो सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने तक बार-बार खाता रहता है, 'ऐसा नहीं करना चाहिए'—इस प्रकार सीख देने वाले को कहता है कि तुम उपदेश देने में कुशल हो, करने में नहीं, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१७. जो आचार्य को छोड़ दूसरे धर्म-सम्प्रदायों में चला जाता है, जो छह मास की अवधि में एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करता है, जिसका आचरण निन्दनीय है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१८. जो अपना घर छोड़ कर (प्रव्रजित होकर) दूसरों के घर में व्यापृत होता है—उनका कार्य करता है, जो शुभाशुभ बता कर धन का अर्जन करता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

---

१. विकृति का अर्थ है—विकार बढ़ाने वाले पदार्थ । विकृति के नौ प्रकार बताये गये हैं—दूध, दही, नवनीत, घृत, तैल, गुड़, मधु, मद्य और मांस ।

१९ जो अपने ज्ञाति-जनों के घरों में भोजन करता है, किन्तु सामुदानिक भिक्षा करना नहीं चाहता, जो गृहस्थ की शय्या पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

२० जो पूर्वोक्त आचरण करने वाला पाँच प्रकार के कुशील साधुओं की तरह असंवृत, मुनि के वेश को धारण करने वाला और मुनि प्रवरों की अपेक्षा तुच्छ संयम वाला होता है, वह इस लोक में विष की तरह निन्दित होता है। वह न इस लोक में कुछ होता है और न पर लोक में।

२१ जो इन दोषों का सदा वर्जन करता है वह मुनियों में सुव्रत होता है। वह इस लोक में अमृत की तरह पूजित होता है तथा इस लोक और परलोक—दोनों लोकों की आराधना करता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

अठारहवाँ अध्ययन

संजयीय

१. काम्पिल्य नगर में सेना और वाहनों से सम्पन्न संजय नाम का राजा था। एक दिन वह शिकार करने के लिए गया।

२. वह घोड़े, हाथी और रथ पर आरूढ़ तथा पैदल चलने वाले महान् सैनिकों द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ था।

३. वह घोड़े पर चढ़ा हुआ था। सैनिक हिरणों को काम्पिल्य नगर के केशर नामक उद्यान की ओर ढकेल रहे थे। वह रस-मूर्च्छित होकर उन डरे हुए और खिन्न बने हुए हिरणों को वहाँ व्यथित कर रहा था—मार रहा था।

४. उस केशर नामक उद्यान में स्वाध्याय में लीन रहने वाले एक तपोधन अनगार धर्म्य-ध्यान में एकाग्र हो रहे थे।

५. कर्म-बन्धन के हेतुओं को निर्मूल करने वाले अनगार लता-मण्डप में ध्यान कर रहे थे। राजा ने उनके समीप आए हुए हिरणों पर बाणों के प्रहार किए।

६. राजा अश्व पर आरूढ़ था वह तुरन्त वहाँ आया। उसने पहले मरे हुए हिरणों को ही देखा, फिर उसने उसी स्थान में अनगार को देखा।

७. राजा अनगार को देखकर भय-भ्रान्त हो गया। उसने सोचा—मैं भाग्य-हीन, रस-लोलुप और जीवों को मारने वाला हूँ। मैंने तुच्छ प्रयोजन के लिए मुनि को आहत किया है।

८. वह राजा घोड़े को छोड़ कर विनय पूर्वक अनगार के चरणों में वन्दना कर कहता है—"भगवन्! इस कार्य के लिए मुझे क्षमा करें।"

९. वे अनगार भगवान् मौन पूर्वक ध्यान में लीन थे। उन्होंने राजा को प्रत्युत्तर नहीं दिया। इससे राजा और अधिक भयाकुल हो गया।

१० राजा बोला—"हे भगवन्! मैं संजय हूं। आप मुझसे बातचीत कीजिए। अनगार कुपित होकर अपने तेज से करोड़ों मनुष्यों को जला डालता है।"

११ अनगार बोले—"पार्थिव ! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है ?

१२ "जब कि तू पराधीन है और इसलिए सब कुछ छोड़ कर तुझे चले जाना है तब इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों राज्य में आसक्त हो रहा है ?

१३ "राजन् ! तू जहाँ मोह कर रहा है वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है। तू परलोक के हित को क्यों नहीं समझ रहा है ?

१४ 'स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र और बान्धव जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं किन्तु वे मृत के पीछे नहीं जाते।

१५. पुत्र अपने मृत पिता को परम दुःख के साथ श्मशान में ले जाते हैं और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रों और बन्धुओं को श्मशान में ले जाता है इसलिए हे राजन् ! तू तपश्चरण कर।

१६ 'राजन् ! मृत्यु के पश्चात् उस मृत व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन और सुरक्षित स्त्रियों को हृष्ट, तुष्ट और अलंकृत होकर दूसरे व्यक्ति भोगते हैं।

१७ "उस मरने वाले व्यक्ति ने जो जो कर्म किया—सुखकर या दुःखकर—उसी के साथ वह परभव में चला जाता है।'

१८ वह संजय राजा अनगार के समीप महान् आदर के साथ धर्म सुन कर मोक्ष का इच्छुक और संसार से उद्विग्न हो गया।

१९ संजय राज्य छोड़ कर भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिन-शासन में दीक्षित हो गया।

२० जिसने राष्ट्र को छोड़ कर प्रव्रज्या ली उस क्षत्रिय ने (अप्रतिबद्ध-विहारी राजर्षि संजय से) कहा—"तुम्हारी आकृति जैसे प्रसन्न दीख रही है वैसे ही तुम्हारा मन भी प्रसन्न दीख रहा है।

२१ "तुम्हारा नाम क्या है ? गोत्र क्या है ? किसलिए तुम माहन—मुनि बने हो ? तुम किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो ? और किस प्रकार विनीत कहलाते हो ?"

२२ 'नाम से मैं संजय हूँ। गोत्र से मैं गौतम हूँ। गर्दभालि मेरे आचार्य हैं—विद्या और चारित्र के पारगामी। मुक्ति के लिए मैं माहन बना हूँ। आचार्य के उपदेशानुसार मैं सेवा करता हूँ इसलिए मैं विनीत कहलाता हूँ।

२३. वे क्षत्रिय श्रमण बोले—"महामुने ! क्रिया, अक्रिया, विनय, अज्ञान—इन चार स्थानों के द्वारा एकान्तवादी तत्त्ववेत्ता जो तत्त्व बतलाते हैं[1]—

२४. "उसे तत्त्ववेत्ता ज्ञान-वर्गीय, उपशान्त, विद्या और चारित्र से सम्पन्न, सत्य-वाक् और सत्य-पराक्रम वाले भगवान् महावीर ने प्रकट किया है।

२५. "'जो मनुष्य पाप करने वाले हैं वे घोर नरक में जाते है और आर्य-धर्म का आचरण कर मनुष्य दिव्य-गति को प्राप्त होते हैं।

२६. 'इन एकान्त-दृष्टि वाले क्रियावादी आदि वादियों ने जो कहा है, वह माया-पूर्ण है इसलिए वह मिथ्या-वचन है, निरर्थक है। मैं इन माया-पूर्ण एकान्तवादों से बच कर रहता हूँ और चलता हूँ।

२७. "मैंने उन सबको जान लिया है जो मिथ्या-दृष्टि और अनार्य है। मैं परलोक के अस्तित्व में आत्मा को भलीभाँति जानता हूँ।

२८ "मैं महाप्राण नामक विमान मे कान्तिमान देव था। मैंने वहाँ पूर्ण आयु का भोग किया। जैसे यहाँ सौ वर्ष की आयु पूर्ण होती है, वैसे ही देवलोक मे पल्योपम[2] और सागरोपम[3] की आयु पूर्ण मानी जाती है।

२९. "वह मैं ब्रह्मलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक में आया हूँ। मैं जिस प्रकार अपनी आयु को जानता हूँ उसी प्रकार दूसरो की आयु को भी जानता हूँ।"

३०. "संयमी को नाना प्रकार की रुचि, अभिप्राय और जो सब प्रकार के अनर्थ हैं उनका वर्जन करना चाहिए—इस विद्या के पथ पर तुम्हारा संचरण हो"—(क्षत्रिय मुनि ने राजर्षि से कहा)—

३१. "मैं (शुभाशुभ सूचक) प्रश्नो और गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मन्त्रणाओं से दूर रहता हूँ। अहो ! मैं दिन-रात धर्माचरण के लिए सावधान रहता हूँ—यह समझ कर तुम तप का आचरण करो।

---

१. इस श्लोक में चार वादों का उल्लेख हुआ है—
 १. क्रियावाद—आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाला सिद्धांत।
 २ अक्रियावाद—आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानने वाला सिद्धांत।
 ३ अज्ञानवाद—अज्ञान से सिद्धि मानने वाला सिद्धांत।
 ४ विनयवाद—विनय से ही मुक्ति मानने वाला सिद्धान्त।

२-३. गणनातीत कालमान।

३२ जो तुम मुझे सम्यक् शुद्ध चित्त से आयु के विषय में पूछते हो, उसे सर्वज्ञ भगवान् ने प्रकट किया है वह ज्ञान जिन-शासन में विद्यमान है।

३३ "धीर-पुरुष को क्रियावाद पर रुचि करनी चाहिए और अक्रियावाद को त्याग देना चाहिए। सम्यक् दृष्टि के द्वारा दृष्टि-सम्पन्न होकर तुम सुदुश्चर धर्म का आचरण करो।

३४ "अर्थ और धर्म से उपशोभित इस पवित्र उपदेश को सुन कर भरत चक्रवर्ती ने भारतवर्ष और काम भोगों को छोड़ कर प्रव्रज्या ली।

३५ "सगर चक्रवर्ती सागर पर्यन्त भारतवर्ष और पूर्ण ऐश्वर्य को छोड़ संयम की आराधना कर मुक्त हुए।

३६ "महर्द्धिक और महान् यशस्वी मघवा चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड़ कर प्रव्रज्या ली।

३७ "महर्द्धिक राजा सनत्कुमार चक्रवर्ती ने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर तपश्चरण किया।

३८ "महर्द्धिक और लोक में शान्ति करने वाले शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड़ कर अनुत्तर गति प्राप्त की।

३९. "इक्ष्वाकु कुल के राजाओं में श्रेष्ठ, विख्यात कीर्ति वाले, धृतिमान् भगवान् कुन्थु नरेश्वर ने अनुत्तर मोक्ष प्राप्त किया।

४० "सागर पर्यन्त भारतवर्ष को छोड़ कर, कर्म रज से मुक्त हो कर, अर नरेश्वर ने अनुत्तर गति प्राप्त की।

४१ "विपुल राज्य, सेना और वाहन तथा उत्तम भोगों को छोड़ कर महापद्म चक्रवर्ती ने तप का आचरण किया।

४२ "(शत्रु राजाओं का) मान-मर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी पर एकछत्र शासन किया, फिर अनुत्तर गति प्राप्त की।

४३ "जय चक्रवर्ती ने हजार राजाओं के साथ राज्य परित्याग कर जिन भाषित दम (इन्द्रिय-संयम) का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की।

४४ "साक्षात् शक्र के द्वारा प्रेरित दशार्णभद्र ने दशार्ण देश का प्रमुदित राज्य छोड़ कर प्रव्रज्या ली और मुनि-धर्म का आचरण किया।

"(विदेह के अधिपति नमिराज ने, जो गृह का त्याग कर श्रामण्य में उपस्थित हुए और देवेन्द्र ने जिन्हें साक्षात् प्रेरित किया, आत्मा को नमा लिया—वे अत्यन्त नम्र बन गए।)

४५ "कलिंग में करकण्डु, पांचाल में द्विमुख, विदेह में नमि राजा और गान्धार में नग्गति—

४६. "राजाओं मे वृषभ के समान वे अपने-अपने पुत्रों को राज्य पर स्थापित कर जिन-शासन मे प्रव्रजित हुए और श्रमण-धर्म मे सदा यत्न-शील रहे।

४७. "सौवीर राजाओं मे वृषभ के समान उद्रायण राजा ने राज्य को छोड़ कर प्रव्रज्या ली, मुनि-धर्म का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की।

४८ "इसी प्रकार श्रेय और सत्य के लिए पराक्रम करने वाले काशीराज ने काम-भोगो का परित्याग कर कर्म-रूपी महावन का उन्मूलन किया।

४९. "इसी प्रकार विमल-कीर्ति, महायशस्वी विजय राजा ने गुण से समृद्ध राज्य को छोड कर जिन-शासन मे प्रव्रज्या ली।

५० "इसी प्रकार अनाकुल-चित्त ने उग्र तपस्या कर राजर्षि महाबल ने अपना सिर देकर सिर (मोक्ष) को प्राप्त किया।

५१ "ये भरत आदि शूर और दृढ पराक्रम-शाली राजा दूसरे धर्म-शासनों से जैन-शासन मे विशेषता पाकर यहीं प्रव्रजित हुए तो फिर धीर पुरुष एकान्त दृष्टिमय अहेतुवादो के द्वारा उन्मत्त की तरह कैसे पृथ्वी पर विचरण करे?

५२. "मैंने यह अत्यन्त युक्तियुक्त बात कही है। इसके द्वारा कई जीवो ने संसार-समुद्र का पार पाया है, पा रहे है और भविष्य में पाएँगे।

५३. "धीर पुरुष एकान्त-दृष्टिमय अहेतुवादो मे अपने-आप को कैसे लगाए? जो सब संगों मे मुक्त होता है वह कर्म-रहित होकर सिद्ध हो जाता है।"

—ऐसा मैं कहता हूँ।

उन्नीसवाँ अध्ययन

मृगापुत्रीय

१ कानन और उद्यान से शोभित सुरम्य सुग्रीव नगर में बलभद्र राजा था। मृगा उसकी पटरानी थी।

२ उनके 'बलश्री' नाम का पुत्र था। जनता में वह 'मृगापुत्र'—इस नाम से विश्रुत था। वह माता पिता का प्रिय, युवराज और दमीश्वर था।

३ वह दोगुन्दग देवों की भाँति सदा प्रमुदित मन रहता हुआ आनन्द देने वाले प्रासाद में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था।

४ मणि और रत्न से जटित फर्श वाले प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ मृगापुत्र नगर के चौराहों, तिराहों और चौहट्टों को देख रहा था।

५ उसने वहाँ जाते हुए एक संयत श्रमण को देखा जो तप, नियम और संयम को धारण करने वाला, शील से समृद्ध और गुणों का आकर था।

६ मृगापुत्र ने उसे अनिमेष-दृष्टि से देखा और मन ही मन चिन्तन करने लगा— मैं मानता हूँ कि ऐसा रूप मैंने पहले कहीं देखा है।"

७ साधु के दर्शन और अध्यवसाय पवित्र होने पर "मैंने ऐसा कहीं देखा है", ऐसी सघन चित्त-वृत्ति हुई और उसे पूर्व जन्म की स्मृति हो आई।

(देवलोक से च्युत हो मनुष्य-जन्म में आया। समनस्क-ज्ञान उत्पन्न हुआ तब पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।)

८ जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न होने पर महर्द्धिक मृगापुत्र को पूर्व-जन्म और पूर्व-कृत श्रामण्य की स्मृति हो आई।

९. अब विषयों में उसकी आसक्ति नहीं रही। वह संयम में अनुरक्त हो गया। माता पिता के समीप आ उसने इस प्रकार कहा—

१० "मैंने पाँच महाव्रतों को सुना है। नरक और तिर्यञ्च योनियों में दुःख है। मैं संसार-समुद्र से विरक्त हो गया हूँ। मैं प्रव्रजित होऊँगा। माता! मुझे आप अनुज्ञा दें।

११. "माता-पिता ! मैं भोगो को भोग चुका हूँ। ये भोग विप के तुल्य हैं, इनका परिणाम कटु होता है और ये निरन्तर दु.ख देने वाले हैं।

१२ "यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न है, आत्मा का यह अशाश्वत आवास है तथा दु:ख और क्लेशो का भाजन है।

१३. "इस अशाश्वत-शरीर मे मुझे आनन्द नही मिल रहा है। इसे पहले या पीछे जब कभी छोड़ना है। यह पानी के बुलबुले के समान नश्वर है।

१४. "मनुष्य-जीवन असार है, व्याधि[1] और रोगो[2] का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है। इसमें मुझे एक क्षण भी आनन्द नही मिल रहा है।

१५. "जन्म दु.ख है, बुढापा दु.ख है. रोग दुःख है और मृत्यु दु.ख है। अहो ! ससार दु ख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।

१६ "भूमि, घर, सोना, पुत्र, स्त्री, बान्धव और इस शरीर को छोड कर मुझे अवश ही चले जाना है।

१७. "जिस प्रकार किम्पाक-फल खाने का परिणाम सुन्दर नही होता उसी प्रकार भोगे हुए भोगो का परिणाम भी सुन्दर नही होता।

१८. "जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है और साथ मे सम्बल नही लेता, वह भूख और प्यास से पीड़ित हो कर चलता हुआ दु.खी होता है।

१९. "इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म किए विना परभव मे जाता है वह व्याधि और रोग से पीड़ित होकर जीवन-यापन करता हुआ दु.खी होता है।

२०. "जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है, किन्तु सम्बल के साथ, वह भूख-प्यास से रहित हो कर चलता हुआ सुखी होता है।

२१. "इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म की आराधना कर परभव मे जाता है, वह अल्पकर्म वाला और वेदना रहित हो कर जीवन-यापन करता हुआ सुखी होता है।

२२. "जैसे घर मे आग लग जाने पर उस घर का जो स्वामी होता है, वह मूल्यवान् वस्तुओ को उसमे से निकालता है और मूल्यहीन वस्तुओ को वही छोड देता है—

---

१. व्याधि—अत्यन्त बाधा उत्पन्न करने वाले कुष्ठ आदि रोग।

२. रोग—कदाचित् होने वाले ज्वर आदि।

२३ "इसी प्रकार यह लोक जरा और मृत्यु से प्रज्वलित हो रहा है। मैं आपकी आज्ञा पाकर उसमें से अपने-आपको निकालूंगा।"

२४ माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र! श्रामण्य का आचरण बहुत कठिन है। भिक्षु को हजारों गुण धारण करने होते हैं।

२५ "विश्व के शत्रु और मित्र—सभी जीवों के प्रति समभाव रखना और यावज्जीवन प्राणातिपात की विरति करना बहुत कठिन कार्य है।

२६ "सदा अप्रमत्त रह मृषावाद का वर्जन करना और सतत सावधान रह कर हितकारी सत्य वचन बोलना बहुत कठिन कार्य है।

२७ "दतौन आदि को भी बिना दिए न लेना और दत्त वस्तु भी वही लेना, जो अनवद्य और एषणीय हो, बहुत ही कठिन कार्य है।

२८ "काम-भोग का रस जानने वाले व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य की विरति करना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करना बहुत ही कठिन कार्य है।

२९ धन-धान्य और प्रेष्य-वर्ग के परिग्रह का वर्जन करना, सब आरम्भों (द्रव्य की उत्पत्ति के व्यापारों) और ममत्व का त्याग करना बहुत ही कठिन कार्य है।

३० "चतुर्विध आहार को रात में खाने का त्याग करना तथा सन्निधि और संचय का वर्जन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

३१ "भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डांस और मच्छरों का कष्ट, आक्रोश-वचन, कष्टप्रद उपाश्रय, घास का बिछौना, मैल—

३२ ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन का कष्ट, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ—इन्हें सहन करना बहुत कठिन कार्य है।

३३ "यह जो कापोती-वृत्ति[1] दारुण केश-लोच और घोर ब्रह्मचर्य का धारण करना है वह महान आत्माओं के लिए भी दुष्कर है।

३४ "पुत्र! तू सुख भोगने योग्य है, सुकुमार है, साफ-सुथरा रहने वाला है। पुत्र! तू श्रामण्य का पालन करने के लिए समर्थ नहीं है।

---

१ कापोती-वृत्ति—कबूतर के समान दोषभीरु वृत्ति। जिस प्रकार कबूतर कण आदि को ग्रहण करते समय सदा शंकित रहता है उसी प्रकार साधु भी भिक्षाचर्या में सदा एषणा-दोष आदि की शंका से प्रवृत्त होता है।

३५. "पुत्र श्रामण्य ! मे जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है। यह गुणों का महान् भार है। भारी-भरकम लोह-भार की भांति उसे उठाना बहुत ही कठिन है।

३६. "आकाश-गंगा के स्रोत, प्रतिस्रोत और भुजाओं से सागर को तैरना जैसे कठिन कार्य है वैसे ही गुणोदधि-गगन को तैरना कठिन कार्य है।

३७. "संयम बालू के कौर की तरह स्वाद-रहित है। तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने जैसा है।

३८. "पुत्र ! सांप जैसे एकाग्र-दृष्टि से चलता है वैसे एकाग्र-दृष्टि से चारित्र का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है। लोहे के जवों को चबाना जैसे कठिन है वैसे ही चारित्र का पालन कठिन है।

३९. "जैसे प्रज्वलित अग्नि-शिखा को पीना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही यौवन में श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है।

४०. जैसे वस्त्र के थैले को हवा से भरना कठिन कार्य है वैसे ही सत्वहीन व्यक्ति के लिए श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है।

४१. "जैसे मेरु-पर्वत को तराजू से तोलना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही निश्चल और निर्भय भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

४२. "जैसे समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही उपशमहीन व्यक्ति के लिए दमरूपी समुद्र को तैरना बहुत कठिन कार्य है।

४३. "पुत्र ! तू मनुष्य-सम्बन्धी पांच इन्द्रियों के भोगों का भोग कर। फिर भुक्त-भोगी हो कर मुनि-धर्म का आचरण करना।"

४४. मृगापुत्र ने कहा—"माता-पिता ! जो आपने कहा वह सही है किन्तु जिस व्यक्ति की ऐहिक सुखों की प्यास बुझ चुकी है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

४५. "मैंने भयंकर शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त बार सहा है और अनेक बार दुःख एवं भय का अनुभव किया है।

४६. "मैंने चार अन्त वाले[1] और भय के आकर जन्म-मरणरूपी जंगल में भयंकर जन्म-मरणों को सहा है।

---

१. संसाररूपी कांतार के चार अन्त हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इसलिए यह चार अन्त वाला कहा जाता है।

४७ "जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय उष्ण वेदना वहाँ नरक में मैंने सही है।"

४८ "जैसे यहाँ यह शीत है इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय शीत-वेदना वहाँ नरक में मैंने सही है।

४९ "पकाने के पात्र में जलती हुई अग्नि में पैरों को ऊँचा और सिर को नीचा कर आक्रन्द करता हुआ मैं अनन्त बार पकाया गया हूँ।

५० "महा दवाग्नि जैसे मरु-देश और वज्रबालुका जैसी कदम्ब नदी के बालू में मैं अनन्त बार जलाया गया हूँ।

५१ "मैं पाक-पात्र में त्राण रहित हो कर आक्रन्द करता हुआ ऊँचा बाँधा गया तथा करवत और आरा आदि के द्वारा अनन्त बार छेदा गया हूँ।

५२ "अत्यन्त तीखे काँटों वाले ऊँचे शाल्मलि[2] वृक्ष पर पाश से बाँध इधर-उधर खींच कर असह्य वेदना से मैं खिन्न किया गया हूँ।

५३ "पापकर्मा मैं अति भयंकर आक्रन्द करता हुआ अपने ही कर्मों द्वारा महायन्त्रों में ईख की भाँति अनन्त बार पेरा गया हूँ।

५४ "मैं इधर-उधर भागता और आक्रन्द करता हुआ काले और चितकबरे सूअर एवं कुत्तों के द्वारा अनेक बार गिराया, फाड़ा और काटा गया हूँ।

५५ "पाप-कर्मों के द्वारा नरक में अवतरित हुआ मैं अलसी के फूलों के समान नील रंग वाली तलवारों, भल्लियों और लोहदण्डों के द्वारा छेदा, भेदा और छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त किया गया हूँ।

५६ "युग-कीलक[3] से युक्त जलते हुए लोह रथ में परवश बनाया गया मैं जोता गया, चाबुक और रस्सी के द्वारा हाँका गया तथा रोझ की भाँति भूमि पर गिराया गया हूँ।

५७ "पाप-कर्मों से घिरा और परवश हुआ मैं भैंसे की भाँति अग्नि की जलती हुई चिताओं में जलाया और पकाया गया हूँ।

---

१ ७३ से ७४—इन श्लोकों में नारकीय वेदनाओं का वर्णन है। पहले तीन नरकों में परमाधार्मिक देवताओं द्वारा पीड़ा पहुंचाई जाती है और अन्तिम चार में नारकीय जीव स्वयं परस्पर वेदना की उदीरणा करते हैं।

२ शाल्मलि—सेमल का वृक्ष।

३ युग-कीलक—जुए के छेदों में डाली जाने वाली लकड़ी की कील।

३५. "पुत्र श्रामण्य ! मे जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है। यह गुणों का महान् भार है। भारी-भरकम लोह-भार की भांति इसे उठाना बहुत ही कठिन है।

३६. "आकाश-गंगा के स्रोत, प्रतिस्रोत और भुजाओं से सागर को तैरना जैसे कठिन कार्य है वैसे ही गुणोदधि-संयम को तैरना कठिन कार्य है।

३७. "संयम बालू के कौर की तरह स्वाद-रहित है। तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने जैसा है।

३८. "पुत्र ! सांप जैसे एकाग्र-दृष्टि से चलता है वैसे एकाग्र-दृष्टि से चारित्र का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है। लोहे के जवों को चबाना जैसे कठिन है वैसे ही चारित्र का पालन कठिन है।

३९. "जैसे प्रज्वलित अग्नि-शिखा को पीना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही यौवन में श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है।

४०. जैसे वस्त्र के थैले को हवा से भरना कठिन कार्य है वैसे ही सत्त्वहीन व्यक्ति के लिए श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है।

४१. "जैसे मेरु-पर्वत को तराजू से तोलना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही निश्चल और निर्भय भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

४२. "जैसे समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही उपशमहीन व्यक्ति के लिए दमरूपी समुद्र को तैरना बहुत कठिन कार्य है।

४३. "पुत्र ! तू मनुष्य-सम्बन्धी पांच इन्द्रियों के भोगों का भोग कर। फिर भुक्त-भोगी हो कर मुनि-धर्म का आचरण करना।"

४४. मृगापुत्र ने कहा—"माता-पिता ! जो आपने कहा वह सही है किन्तु जिस व्यक्ति की ऐहिक सुखों की प्यास बुझ चुकी है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

४५. "मैंने भयंकर शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त बार सहा है और अनेक बार दुःख एवं भय का अनुभव किया है।

४६. "मैंने चार अन्त वाले[1] और भय के आकर जन्म-मरणरूपी जंगल में भयंकर जन्म-मरणों को सहा है।

---

१. संसाररूपी कांतार के चार अन्त हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इसलिए यह चार अन्त वाला कहा जाता है।

४७ "जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय उष्ण वेदना वहाँ नरक में मैंने सही है।[1]

४८ जैसे यहाँ यह शीत है इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय शीत-वेदना वहाँ नरक में मैंने सही है।

४९ "पकाने के पात्र में, जलती हुई अग्नि में पैरों को ऊँचा और सिर को नीचा कर आक्रन्द करता हुआ मैं अनन्त बार पकाया गया हूँ।

५० "महा दवाग्नि जैसे मरुदेश और वज्रबालुका जैसी कदम्ब नदी के बालू में मैं अनन्त बार जलाया गया हूँ।

५१ "मैं पाक-पात्र में त्राण रहित हो कर आक्रन्द करता हुआ ऊँचा बाँधा गया तथा करपत्र और आरा आदि के द्वारा अनन्त बार छेदा गया हूँ।

५२ "अत्यन्त तीखे काँटों वाले ऊँचे शाल्मलि[2] वृक्ष पर पाश से बाँध इधर-उधर खींच कर असह्य वेदना से मैं खिन्न किया गया हूँ।

५३ "पापकर्मा मैं अति भयंकर आक्रन्द करता हुआ अपने ही कर्मों द्वारा महायन्त्रों में ईख की भाँति अनन्त बार पेरा गया हूँ।

५४ "मैं इधर-उधर भागता और आक्रन्द करता हुआ काले और चितकबरे सूअर एवं कुत्तों के द्वारा अनेक बार गिराया, फाड़ा और काटा गया हूँ।

५५ "पाप-कर्मों के द्वारा नरक में अवतरित हुआ मैं अलसी के फूलों के समान नीले रंग वाली तलवारों, भालियों और लोहदण्डों के द्वारा छेदा, भेदा और छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त किया गया हूँ।

५६ "युग-कीलक[3] में युक्त जलते हुए लोहरथ में परवश बनाया गया मैं जोता गया, चाबुक और रस्सी के द्वारा हाँका गया तथा रोझ की भाँति भूमि पर गिराया गया हूँ।

५७ "पाप-कर्मों से घिरा और परवश हुआ मैं भैंसे की भाँति अग्नि की जलती हुई चिताओं में जलाया और पकाया गया हूँ।

---

१ ४७ से ७४—इन श्लोकों में नारकीय वेदनाओं का वर्णन है। पहले तीन नरकों में परमाधार्मिक देवताओं द्वारा पीड़ा पहुंचाई जाती है और अन्तिम चार में नारकीय जीव स्वयं परस्पर वेदना की उदीरणा करते हैं।

२ शाल्मलि—सेमल का वृक्ष।

३ युग-कीलक—जुए के छेदों में डाली जाने वाली लकड़ी की कील।

५८. "संडासी जैसी चोंच वाले और लोहे जैसी कठोर चोंच वाले ढंक और गीध पक्षियों के द्वारा विलाप करता हुआ मैं बल-प्रयोग पूर्वक अनन्त बार नोचा गया हूँ।

५९. "प्यास से पीड़ित होकर मैं दौड़ता हुआ वैतरणी नदी पर पहुंचा। 'जल पीऊँगा'—यह सोच रहा था, इतने मे छूरे की धार से मैं चीरा गया।

६०. "गर्मी से सतप्त होकर असि-पत्र महावन में गया। वहां गिरते हुए तलवार के समान तीखे पत्तो से अनेक बार छेदा गया हूँ।

६१. "मुद्गरो, मुसुण्डियो, शूलों और मुसलो से त्राण-हीन दशा मे मेरा शरीर चूर-चूर किया गया—इस प्रकार मैं अनन्त वार दुःख को प्राप्त हुआ हूँ।

६२. "तेज धार वाले छूरों, छुरियो और कैंचियो से मैं अनेक बार खण्ड-खण्ड किया गया, दो टूक किया गया और छेदा गया हूँ तथा मेरी चमडी उतारी गई है।

६३. "पाशो और कूटजालों द्वारा मृग की भांति परवश बना हुआ मैं अनेक बार ठगा गया, बांधा गया, रोका गया और मारा गया हूँ।

६४. "मछली के फंसाने की कँटियों और मगरो को पकड़ने के जालो द्वारा मत्स्य की तरह परवश बना हुआ मैं अनन्त बार खीचा, फाड़ा, पकडा और मारा गया हूँ।

६५. बाज पक्षियो, जालो और वज्रलेपो के द्वारा पक्षी की भांति मैं अनन्त बार पकडा, चिपकाया, बांधा और मारा गया हूँ।

६६. "बढई के द्वारा वृक्ष की भांति कुल्हाडी और फरसा आदि के द्वारा मैं अनन्त बार कूटा, दो टूक किया, छेदा और छीला गया हूँ।

६७. "लोहार के द्वारा लोह की भांति चपत और मुट्ठी आदि के द्वारा मैं अनन्त बार पीटा, कूटा, भेदा और चूरा किया गया हूँ।

६८. "भयकर आक्रन्द करते हुए मुझे गर्म और कलकल शब्द करता हुआ तांबा, लोहा, रांगा और सीसा पिलाया गया।

६९. "तुझे खण्ड किया हुआ और शूल में खोंस कर पकाया हुआ मांस प्रिय था—यह याद दिलाकर मेरे शरीर का मांस काट अग्नि जैसा लाल कर मुझे खिलाया गया।

७०. "तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु—ये मदिराएँ प्रिय थीं—यह याद दिलाकर मुझे जलती हुई चर्बी और रुधिर पिलाया गया।

७१ "सदा भयभीत, संत्रस्त, दुःखित और व्यथित रूप में रहते हुए मैंने परम दुःखमय वेदना का अनुभव किया है।

७२ "तीव्र, चण्ड, प्रगाढ़, घोर, अत्यन्त भयंकर वेदनाओं का मैंने नरक-लोक में अनुभव किया है।

७३ "माता पिता ! मनुष्य-लोक में जैसी वेदना है उससे अनन्तगुना अधिक दुःख देने वाली वेदना नरक-लोक में है।

७४ "मैंने सभी जन्मों में दुःखमय वेदना का अनुभव किया है। वहाँ एक निमेष का अन्तर पड़े उतनी भी सुखमय वेदना नहीं है।"

७५. माता पिता ने उससे कहा—"पुत्र ! तुम्हारी इच्छा है तो प्रव्रजित हो जाओ। परन्तु श्रमण बनने के बाद रोगों की चिकित्सा नहीं की जाती। यह कितना कठिन मार्ग है ?"

७६ उसने कहा—"माता पिता ! आपने जो कहा वह ठीक है। किन्तु जंगल में रहने वाले हरिण और पक्षियों की चिकित्सा कौन करता है ?

७७ "जैसे जंगल में हरिण अकेला विचरता है वैसे मैं भी संयम और तप के साथ एकाकी भाव को प्राप्त कर धर्म का आचरण करूँगा।

७८ "जब महावन में हरिण के शरीर में आतंक उत्पन्न होता है तब किसी वृक्ष के पास बैठे हुए उस हरिण की कौन चिकित्सा करता है ?

७९. "कौन उसे औषधि देता है ? कौन उससे सुख की बात पूछता है ? कौन उसे खाने-पीने को भोजन पानी लाकर देता है ?

८० "जब वह स्वस्थ हो जाता है तब गोचर में जाता है। खाने-पीने के लिए लता-निकुंजों और जलाशयों में जाता है।

८१ "लता-निकुंजों और जलाशयों में खा-पीकर वह मृग-चर्या (कूदफाँद) के द्वारा मृग-चर्या (स्वतंत्र विहार) के लिए चला जाता है।

८२ "इसी प्रकार संयम के लिए उठा हुआ भिक्षु स्वतंत्र विहार करता हुआ मृग-चर्या का आचरण कर ऊँची-दिशा—मोक्ष को चला जाता है।

८३ "जिस प्रकार हरिण अकेला, अनेक स्थानों से भोजन-पानी लेने वाला और गोचर से ही जीवन-यापन करने वाला होता है, उसी प्रकार गोचर-प्रविष्ट मुनि जब भिक्षा के लिए जाता है तब किसी की अवज्ञा और निन्दा नहीं करता।

८४ "मैं मृग-चर्या का आचरण करूँगा।" "पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो।" इस प्रकार माता पिता की अनुमति पाकर वह उपधि को छोड़ रहा है।

८५. "मैं तुम्हारी अनुमति पाकर सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली मृग-चर्या का आचरण करूँगा।" (माता-पिता ने कहा)—"पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो।"

८६. "इस प्रकार वह नाना उपायों से माता-पिता की अनुमति के लिए राजी कर ममत्व का छेदन कर रहा है जैसे महानाग काँचुली का छेदन करता है।

८७. "ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, कलत्र और ज्ञातिजनों को कपड़े पर लगी हुई धूलि की भाँति झटक कर वह निकल गया—प्रव्रजित हो गया।

८८. "वह पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, आन्तरिक और बाहरी तपस्या से तत्पर—

८९ "ममत्व-रहित, अहंकार-रहित, निर्लेप, गौरव को त्यागने वाला, त्रस और स्थावर सभी जीवों में समभाव रखने वाला—

९०. "लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम रहने वाला—

९१. "गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त, निदान और बन्धन से रहित—

९२. "इहलोक और परलोक में अनासक्त, बसूले से काटने और चन्दन लगाने पर तथा आहार मिलने या न मिलने पर सम रहने वाला—

९३. "अप्रशस्त द्वारों से आने वाले कर्मपुद्गलों का सर्वतः निरोध करने वाला, शुभ-ध्यान की प्रवृत्ति से प्रशस्त एवं उपशम-प्रधान शासन में रहने वाला हुआ।

९४. "इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भली-भाँति भावित कर—

९५. "बहुत वर्षों तक श्रमण-धर्म का पालन कर, अन्त में एक महीने का अनशन कर वह अनुत्तर सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त हुआ।

९६. "संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण जो होते हैं वे ऐसा करते हैं। वे भोगों से उसी प्रकार निवृत्त होते हैं, जिस प्रकार मृगा-पुत्र ऋषि हुए थे।

९७. "महा प्रभावशाली, महान् यशस्वी मृगा-पुत्र का कथन, तप-प्रधान उत्तम-आचरण और त्रिलोक-विश्रुत प्रधान-गति (मोक्ष) को सुन कर—

९८. "धन को दुःख बढ़ाने वाला और ममता के बन्धन को महान् भयंकर जान कर सुख देने वाली, अनुत्तर निर्वाण के गुणों को प्राप्त कराने वाली, महान् धर्म की धुरा को धारण करो।"

—ऐसा मैं कहता हूँ।

बीसवाँ अध्ययन

महानिर्ग्रन्थीय

१ सिद्धों और संयत-आत्माओं को भाव भरा नमस्कार कर मैं अर्थ (साध्य) और धर्म का ज्ञान कराने वाली तथ्य-पूर्ण अनुशासना का निरूपण करता हूँ। वह मुझसे सुनो।

२ प्रचुर रत्नों से सम्पन्न, मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मण्डिकुक्षि नामक उद्यान में विहार-यात्रा (क्रीड़ा-यात्रा) के लिए गया।

३ वह उद्यान नाना प्रकार के द्रुमों और लताओं से आकीर्ण, नाना प्रकार के पक्षियों से आश्रित, नाना प्रकार के कुसुमों से पूर्णतः ढँका हुआ और नन्दनवन के समान था।

४ वहाँ राजा ने संयत, मानसिक समाधि से सम्पन्न, वृक्ष के पास बैठे सुकुमार और सुख भोगने योग्य साधु को देखा।

५. उसके रूप को देखकर राजा उस संयत के प्रति आकृष्ट हुआ और उसे अत्यन्त उत्कृष्ट और अतुलनीय विस्मय हुआ।

६ आश्चर्य! कैसा वर्ण और कैसा रूप है! आश्चर्य! आर्य की कैसी सौम्यता है! आश्चर्य! कैसी क्षमा और निर्लोभता है! आश्चर्य! भोगों में कैसी अनासक्ति है!

७ उसके चरणों में नमस्कार और प्रदक्षिणा कर, न अतिदूर, न अतिनिकट रह राजा ने हाथ जोड़ कर पूछा—

८ "आर्य! अभी तुम तरुण हो। संयत! तुम भोग-काल में प्रव्रजित हुए हो, श्रामण्य के लिए उपस्थित हुए हो इसका क्या प्रयोजन है? मैं सुनना चाहता हूँ।"

९ "महाराज! मैं अनाथ हूँ मेरा कोई नाथ नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा करने वाला या मित्र कोई नहीं पा रहा हूँ।"

१० यह सुनकर मगधाधिपति राजा श्रेणिक जोर से हँसा और बोला—"तुम ऐसे सहज सौभाग्यशाली हो फिर कोई तुम्हारा नाथ कैसे नहीं है?

११. "हे भदन्त ! मैं तुम्हारा नाथ होता हूं। संयत ! मित्र और ज्ञातियों से परिवृत होकर विषयों का भोग करो। यह मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है।"

१२. "हे मगध के अधिपति श्रेणिक ! तू स्वयं अनाथ है। स्वयं अनाथ होते हुए तू दूसरों का नाथ कैसे होगा ?"

१३. श्रेणिक पहले ही विस्मयान्वित बना हुआ था और साधु के द्वारा—'तू अनाथ है'—ऐसा अश्रुतपूर्व-वचन कहे जाने पर वह अत्यन्त व्याकुल और अत्यन्त आश्चर्यमग्न हो गया।

१४. "मेरे पास हाथी, घोड़े और मनुष्य हैं, नगर और अन्तःपुर हैं, मैं मनुष्य सम्बन्धी भोगों को भोग रहा हूं, आज्ञा और ऐश्वर्य मेरे पास हैं।

१५. "जिसने मुझे सब काम-भोग समर्पित किये हैं वैसी उत्कृष्ट सम्पदा होते हुए मैं अनाथ कैसे हूं ? भदन्त ! असत्य मत बोलो।"

१६. "हे पार्थिव ! तू अनाथ शब्द का अर्थ और उसकी उत्पत्ति—मैंने तुझे अनाथ क्यों कहा—इसे नहीं जानता, इसलिए जैसे अनाथ या सनाथ होता है, वैसे नहीं जानता।

१७. "महाराज ! तू अव्याकुल चित्त से वह सुन—जैसे कोई पुरुष अनाथ होता है और जिस रूप मे मैंने अनुभव किया है।

१८. "प्राचीन नगरों मे असाधारण सुन्दर कौशाम्बी नाम की नगरी है। वहां मेरे पिता रहते हैं। उनके पास प्रचुर धन का संचय है।

१९. "महाराज ! प्रथम-वय में मेरी आंखों में असाधारण वेदना उत्पन्न हुई। पार्थिव ! मेरा समूचा शरीर पीड़ा देने वाली जलन से जल उठा।

२०. "जैसे कुपित बना हुआ शत्रु शरीर के छेदों में अत्यन्त तीखे शस्त्रों को घुसेड़ता है, उसी प्रकार मेरी आंखों में वेदना हो रही थी।

२१. "मेरे कटि, हृदय और मस्तक में परम दारुण वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र का वज्र लगने से घोर वेदना होती है।

२२. "विद्या और मन्त्र के द्वारा चिकित्सा करने वाले मन्त्र और औषधियों के विशारद अद्वितीय शास्त्र-कुशल प्राणाचार्य मेरी चिकित्सा करने के लिए उपस्थित हुए।

२३ "उन्होंने जैसे मेरा हित हो वैसे चतुष्पाद[1] चिकित्सा की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है ।

२४ "मेरे पिता ने मेरे लिए उन प्राणाचार्यों को बहुमूल्य वस्तुएँ दीं, किन्तु वे (पिता) मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है ।

२५ "महाराज ! मेरी माता पुत्र-शोक के दुःख से पीड़ित होती हुई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है ।

२६ "महाराज ! मेरे बड़े-छोटे सब भाई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है ।

२७ महाराज ! मेरी बड़ी-छोटी सगी बहनें भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकीं—यह मेरी अनाथता है ।

२८ 'महाराज ! मुझमें अनुरक्त और पतिव्रता मेरी पत्नी आँसू भरे नयनों से मेरी छाती को भिगोती रही ।

२९ "वह बाला मेरे प्रत्यक्ष या परोक्ष में अन्न, पान, स्नान, गंध, माल्य और विलेपन का भोग नहीं कर रही थी ।

३० ""वह क्षण भर के लिए भी मुझसे दूर नहीं हो रही थी, किन्तु वह मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है ।

३१ "तब मैंने इस प्रकार कहा—इस अनन्त संसार में बार-बार दुस्सह वेदना का अनुभव करना होता है ।

३२ "इस विपुल वेदना से यदि मैं एक बार ही मुक्त हो जाऊँ तो क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार कर लूँ ।

३३ "हे नराधिप ! ऐसा चिन्तन कर मैं सो गया । बीतती हुई रात्रि के साथ साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई ।

३४ "उसके पश्चात् प्रभातकाल में मैं स्वस्थ हो गया । मैं अपने बन्धु-जनों को पूछ क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार-वृत्ति में आ गया ।

३५. "तब मैं अपना और दूसरों का, सभी त्रस और स्थावर जीवों का नाथ हो गया ।

---

१ चतुष्पाद चिकित्सा—चिकित्सा के चार पाद होते हैं—वैद्य, औषध, रोगी और परिचारक । जहाँ इन चारों का पूर्ण योग होता है उसे चतुष्पाद कहते हैं ।

३६. "मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही काम-दुघा-धेनु है और आत्मा ही नन्दन-वन है।

३७ "आत्मा ही दुःख-सुख की करने वाली और उनका क्षय करने वाली है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

३८. हे राजन्! यह एक दूसरी अनाथता ही है। एकाग्रचित्त, स्थिर-शान्त होकर तुम उसे मुझसे सुनो। जैसे कई एक व्यक्ति बहुत कायर होते हैं। वे निर्ग्रन्थ-धर्म को पाकर भी कष्टों का अनुभव करते हैं—निर्ग्रन्थाचार के पालन करने में शिथिल हो जाते हैं।

३९ "जो महाव्रतों को स्वीकार कर भलीभांति उनका पालन नहीं करता, अपनी आत्मा का निग्रह नहीं करता, रसों में मूर्च्छित होता है, वह बंधन का मूलोच्छेद नहीं कर पाता।

४०. "ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उच्चार-प्रस्रवण की परिस्थापना में जो सावधानी नहीं बरतता, वह उस मार्ग का अनुगमन नहीं कर सकता जिस पर वीर पुरुष चले हैं।

४१. "जो व्रतों में स्थिर नहीं है, तप और नियमों से भ्रष्ट है, वह चिरकाल तक मुण्डरुचि (साधु) होकर भी, चिरकाल तक आत्मा को कष्ट देकर भी, संसार का पार नहीं पा सकता।

४२. "जो पोली मुट्ठी की भांति असार है, सिक्के की भांति नियन्त्रण-रहित है, काचमणि होते हुए भी वैडूर्य जैसे चमकता है, वह जानकार व्यक्तियों की दृष्टि में मूल्य-हीन हो जाता है।

४३. "जो कुशील-वेश और ऋषि-ध्वज (रजोहरण आदि मुनि-चिह्नों) को धारण कर उनके द्वारा जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने-आप को संयत कहता है, वह चिरकाल तक विनाश को प्राप्त होता है।

४४. "पिया हुआ काल-कूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और नियन्त्रण में नहीं लाया हुआ वेताल जैसे विनाशकारी होता है, वैसे ही यह विषयों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।

४५. "जो लक्षण-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र का प्रयोग करता है, निमित्त शास्त्र और कौतुक[1] कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाले

१. कौतुक—सन्तान-प्राप्ति के लिए विशेष द्रव्यों से मिश्रित जल से स्नान आदि करना।

विद्यात्मक आस्रव-द्वार से जीविका चलाता है वह कर्म का फल भुगतने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता।

४६ "वह शील-रहित साधु अपने तीव्र अज्ञान से सतत दुःखी होकर विपरीत दृष्टि वाला हो जाता है। वह असाधु प्रकृति वाला मुनि धर्म की विराधना कर नरक और तिर्यग्योनि में आता-जाता रहता है।

४७ "जो औद्देशिक[1], क्रीतकृत[2], नित्याग्र[3] और कुछ भी अनेषणीय को नहीं छोड़ता, वह अग्नि की तरह सर्व-भक्षी होकर, पाप-कर्म का अर्जन करता है और यहाँ से मर कर दुर्गति में जाता है।

४८ "अपनी दुष्प्रवृत्ति जो अनर्थ उत्पन्न करती है वह अनर्थ गला काटने वाला शत्रु भी नहीं करता। वह दुष्प्रवृत्ति करने वाला दया विहीन मनुष्य मृत्यु के मुख में पहुँचने के समय पश्चात्ताप के साथ इस तथ्य को जान पाएगा।

४९ "जो अन्तिम समय की आराधना में भी विपरीत बुद्धि रखता है—दुष्प्रवृत्ति को सत् प्रवृत्ति मानता है उसकी श्रमण-रुचि भी निरर्थक है। उसके लिए यह लोक भी नहीं है, परलोक भी नहीं है। वह दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर दोनों लोकों के प्रयोजन की पूर्ति न कर सकने के कारण चिन्ता से छीज जाता है।

५० "इसी प्रकार यथाछन्द (स्वच्छन्द भाव से विहार करने वाले) और कुशील साधु जिनोत्तम भगवान् के मार्ग की विराधना कर परिताप को प्राप्त होते हैं जैसे—भोग रस में आसक्त होकर अर्थ-हीन चिन्ता करने वाली गीध पक्षिणी।

५१ ‘मेधावी पुरुष इस सुभाषित, ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन को सुनकर कुशील व्यक्तियों के सम्पूर्ण मार्ग को छोड़कर महानिर्ग्रन्थ के मार्ग से चले।

५२ ‘फिर चरित्र के आचरण और ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न निर्ग्रन्थ अनुत्तर संयम का पालन कर, कर्मों का क्षय कर निराश्रव होता है और वह विपुलोत्तम शाश्वत स्थान—मोक्ष में चला जाता है।"

५३ इस प्रकार उग्र-दान्त, महा-तपोधन, महा-प्रतिज्ञ, महान् यशस्वी उस महामुनि ने इस महाश्रुत, महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन को महान् विस्तार के साथ कहा।

---

१ २ ३—देखें दशवैकालिक ३/२ का टिप्पण।

५४. श्रेणिक राजा तुष्ट हुआ और दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—"भगवन् ! तुमने अनाथ का यथार्थ स्वरूप मुझे समझाया है।

५५. "हे महर्षि ! तुम्हारा मनुष्य-जन्म सुलब्ध है—सफल है। तुम्हें जो उपलब्धियाँ हुई है वे भी सफल हैं। तुम सनाथ हो, सबान्धव हो क्योंकि तुम तीर्थंकर के मार्ग में अवस्थित हो।

५६. "हे संयत ! तुम अनाथों के नाथ हो, तुम सब जीवो के नाथ हो। हे महाभाग ! मैं अनुशासित होना चाहता हूँ।

५७. "मैंने तुमसे प्रश्न कर जो ध्यान मे विघ्न किया और भोगों के लिए निमन्त्रण दिया, मेरे उन सब व्यवहारो को तुम सहन करो—क्षमा करो।"

५८. इस प्रकार राजसिंह—श्रेणिक अनगार-सिंह की परम भक्ति से स्तुति कर अपने विमल चित्त से रनिवास, परिजन और बन्धु-जन सहित धर्म में अनुरक्त हो गया।

५९. राजा के रोम-कूप उच्छ्वसित हो रहे थे। वह मुनि की प्रदक्षिणा कर, सिर झुका, वन्दना कर चला गया।

६०. वह गुण से समृद्ध, त्रिगुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डो से विरत और निर्मोह मुनि भी विहग की भाँति स्वतन्त्र-भाव से भूतल पर विहार करने लगा।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

इक्कीसवाँ अध्ययन

समुद्रपालीय

१ चम्पा नगरी में पालित नामक एक वणिक-श्रावक हुआ। वह महात्मा भगवान् महावीर का शिष्य था।

२ वह श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन में कोविद था। वह जहाज से व्यापार करता हुआ पिहुण्ड नगर में आया।

३ पिहुण्ड नगर में व्यापार करते समय उसे किसी वणिक् ने पुत्री दी। कुछ समय ठहरने के पश्चात् वह गर्भवती को लेकर स्वदेश को विदा हुआ।

४ पालित की स्त्री ने समुद्र में पुत्र का प्रसव किया। वह समुद्र में उत्पन्न हुआ इसलिए उसका नाम समुद्रपाल रखा।

५ वह वणिक-श्रावक सकुशल चम्पा नगरी में अपने घर आया। वह सुखोचित पुत्र अपने घर में बढ़ने लगा।

६ उसने बहत्तर कलाएँ सीखीं और वह नीति-कोविद बना। वह पूर्ण यौवन में सुरूप और प्रिय लगने लगा।

७ उसका पिता उसके लिए रूपिणी नामक सुन्दर स्त्री लाया। वह दोगुन्दक देव की भाँति उसके साथ सुरम्य प्रासाद में क्रीड़ा करने लगा।

८ वह कभी एक बार प्रासाद के झरोखे में बैठा हुआ था। उसने वध्य-जनोचित मण्डनों से शोभित[1] वध्य को नगर से बाहर ले जाते हुए देखा।

---

१ वध्य-जनोचित मण्डनों से शोभित—इन शब्दों में एक प्राचीन परम्परा का संकेत मिलता है। प्राचीन काल में चोरी करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। जिसे वध की सजा हो जाती थी उसके गले में कनेर के लाल फूलों की माला पहनाई जाती, उसे लाल कपड़े पहनाए जाते, उसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता और उसे सारे नगर में घुमाते हुए उसके वध्य होने की जानकारी देते हुए उसे श्मशान की ओर ले जाया जाता था।

९. उसे देख वैराग्य में भीगा हुआ समुद्रपाल यों बोला—"अहो ! यह अशुभ कर्मों का दुःखद अवसान है।"

१०. वह ज्ञानी समुद्रपाल परम वैराग्य को प्राप्त हुआ और सम्बुद्ध बन गया। उसने माता-पिता को पूछकर श्रामण्य स्वीकार किया।

११. मुनि महान् क्लेश और महान् मोह को उत्पन्न करनेवाली कृष्ण व भयावह आसक्ति को छोड़कर पर्याय-धर्म (प्रव्रज्या), व्रत और शील तथा परीषहों में अभिरुचि ले।

१२. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर विद्वान मुनि वीतराग-उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

१३. सुसमाहित-इन्द्रिय वाला भिक्षु सब जीवों के प्रति दयानुकम्पी रहे। वह क्षमा-भाव से दुर्वचनों को सहने वाला, संयत और ब्रह्मचारी हो। वह सावद्य योग का वर्जन करता हुआ विचरण करे।

१४. मुनि अपने बलाबल को तौलकर कालोचित कार्य करता हुआ राष्ट्र में विचरण करे। वह सिंह की भाँति भयावह शब्दों से संत्रस्त न हो। वह कुवचन सुन असभ्य वचन न बोले।

१५. संयमी मुनि कुवचनों की उपेक्षा करता हुआ परिव्रजन करे। प्रिय और अप्रिय सब कुछ सहे। जो कुछ देखे उसी की अभिलाषा न करे तथा पूजा और गर्हा की भी अभिलाषा न करे।

१६. संसार में मनुष्यों में जो अनेक अभिप्राय होते हैं वस्तु-वृत्त्या वे भिक्षु में भी होते हैं। किन्तु भिक्षु उन पर अनुशासन करे और साधुपन में देव, मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी भय पैदा करनेवाले भीषण-भीषणतम उपसर्ग उत्पन्न हों, उन्हें सहन करे।

१७. जहाँ अनेक दुस्सह परीषह प्राप्त होते हैं, वहाँ बहुत सारे कायर लोग खिन्न हो जाते हैं। किन्तु भिक्षु उन्हें प्राप्त होकर व्यथित न बने, जैसे—संग्राम-शीर्ष (मोर्चे) पर नागराज व्यथित नहीं होता।

१८. शीत, उष्ण, डांस, मच्छर, तृण-स्पर्श और विविध प्रकार के आतंक जब देह का स्पर्श करें तब मुनि शान्त भाव से उन्हें सहन करे, पूर्वकृत कर्मों को क्षीण करे।

१९. विचक्षण भिक्षु राग, द्वेष और मोह का सतत त्याग कर, वायु से मेरु की भाँति अकम्पमान होकर तथा आत्म-गुप्त बनकर परीषहों को सहन करे।

२० पूजा में उन्नत और गर्हा में अवनत न होनेवाला महर्षि मुनि उनमें लिप्त न हो। अलिप्त रहने वाला वह विरत संयमी आर्जव को स्वीकार कर निर्वाण मार्ग को प्राप्त होता है।

२१ जो अरति और रति को सहने वाला, परिचय को क्षीण करने वाला, असंयम से विरत रहनेवाला, आत्म-हित करने वाला तथा संयमवान् होता है, वह छिन्न-शोक, अमम और अकिंचन होकर परमार्थ-पदों में स्थित होता है।

२२ त्रायी मुनि महायशस्वी ऋषियों द्वारा आचीर्ण, अलिप्त और बीज आदि से रहित एकान्त स्थानों का सेवन करे तथा काया से परीषहों को सहन करे।

२३ सद्ज्ञान से ज्ञान प्राप्त करने वाला महर्षि मुनि अनुत्तर धर्म-संचय का आचरण कर अनुत्तर ज्ञानधारी और यशस्वी होकर अन्तरिक्ष में सूर्य की भाँति दीप्तिमान् होता है।

२४ समुद्रपाल संयम में निश्चल और सर्वतः मुक्त होकर, पुण्य और पाप दोनों का क्षय कर तथा विशाल संसार प्रवाह को समुद्र की भाँति तर कर अपुनरागम-गति (मोक्ष) में गया है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

बाईसवाँ अध्ययन

रथनेमीय

१. सोरियपुर नगर मे राज-लक्षणों से युक्त वसुदेव नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था।

२. उसके रोहिणी और देवकी नामक दो भार्याएँ थीं। उन दोनो के राम और केशव—ये दो प्रिय पुत्र थे।

३. सोरियपुर नगर मे राज-लक्षणों से युक्त समुद्रविजय नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था।

४. उसके शिवा नामक भार्या थी। उसके भगवान् अरिष्टनेमि नामक पुत्र हुआ। वह लोकनाथ एवं जितेन्द्रियों मे प्रधान था।

५. वह अरिष्टनेमि स्वर-लक्षणों मे युक्त, एक हजार आठ शुभ-लक्षणों का धारक, गौतम गोत्री और श्याम वर्ण वाला था।

६. वह वज्रऋषभ सहनन[1] और समचतुरस्र संस्थान[2] वाला था। उसका उदर मछली के उदर जैसा था। केशव ने उसके लिए भार्या के रूप मे राजीमती कन्या की माँग की।

७. वह राजकन्या सुशील, मनोहर-चितवन वाली, स्त्री-जनोचित सर्व-लक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।

---

१. सहनन का अर्थ है—अस्थि-बन्धन। सुदृढ़तम अस्थि-बन्धन का नाम है—'वज्रऋषभनाराच सहनन'। विशेष व्याख्या के लिए देखें—उत्तराध्ययन (स-टिप्पण संस्करण)।

२. संस्थान का अर्थ है—शरीर की आकृति। पालथी मार कर बैठे हुए जिस व्यक्ति के चारों कोण सम होते हैं, वह 'समचतुरस्र संस्थान' है। विशेष व्याख्या के लिए देखें—उत्तराध्ययन (स-टिप्पण संस्करण)।

८ उसके पिता उग्रसेन ने महान् ऋद्धिमान् वासुदेव से कहा—"कुमार यहाँ आए तो मैं अपनी कन्या दे सकता हूँ।"

९. अरिष्टनेमि को सब औषधियों के जल से नहलाया गया, कौतुक[1] और मंगल किये गए, दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और आभरणों से विभूषित किया गया।

१० वासुदेव के मतवाले ज्येष्ठ गन्धहस्ती[2] पर आरूढ़ अरिष्टनेमि सिर पर चूड़ामणि की भाँति बहुत सुशोभित हो रहा था।

११ अरिष्टनेमि ऊँचे छत्र-चामरों से सुशोभित और दसार चक्र[3] से सर्वतः परिवृत था।

१२ यथाक्रम सजाई हुई चतुरंगिनी-सेना और बाजों के गगन-स्पर्शी दिव्यनाद—

१३ ऐसी उत्तम ऋद्धि और उत्तम द्युति के साथ वह वृष्णि-पुंगव[4] अपने भवन से चला।

१४ मार्ग में जाते हुए उसने भय से संत्रस्त, बाड़ों और पिंजरों में निरुद्ध, अत्यन्त दुःखित प्राणियों को देखा।

१५. वे मरणासन्न दशा को प्राप्त थे और मांसाहार के लिए खाए जाने वाले थे। उन्हें देखकर महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने सारथि से इस प्रकार कहा—

१६ "सुख की चाह रखने वाले ये सब प्राणी किसलिए इन बाड़ों और पिंजरों में रोके हुए हैं?"

१७ सारथि ने कहा—"ये भद्र प्राणी तुम्हारे विवाह-कार्य में बहुत जनों को खिलाने के लिए यहाँ रोके हुए हैं।"

१८ सारथि का बहुत जीवों के वध का प्रतिपादक वचन सुन कर जीवों के प्रति सकरुण उस महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने सोचा—

१९. "यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से जीवों का वध होने वाला है तो यह परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।"

---

१ कौतुक—विवाह आदि मंगल-कार्यों में किया जाने वाला वेश-भार।

२ गन्धहस्ती—श्रेष्ठ हाथी, जिसकी गंध से दूसरे हाथी भाग जाते हैं या निर्वीर्य हो जाते हैं।

३ दसार-चक्र—दस यादवों का समूह। देखें—उत्तराध्ययन (सटिप्पण संस्करण)।

४ वृष्णि-पुंगव—वृष्णिकुल का प्रधान पुरुष।

२०. उस महायशस्वी अरिष्टनेमि ने दो कुण्डल, करधनी और सारे आभूषण उतार कर सारथि को दे दिये ।

२१. अरिष्टनेमि के मन में जैसे ही निष्क्रमण (दीक्षा) की भावना हुई, वैसे ही उसका निष्क्रमण-महोत्सव करने के लिए औचित्य के अनुसार देवता आए। उनका समस्त वैभव और उनकी परिषदें उनके साथ थीं।

२२. देव और मनुष्यों से परिवृत्त भगवान् अरिष्टनेमि शिविका-रत्न में आरूढ हुआ। द्वारका से चल कर वह रैवतक (गिरनार) पर्वत पर स्थित हुआ।

२३. अरिष्टनेमि सहस्राम्रवन उद्यान में पहुँच कर उत्तम शिविका से नीचे उतरा। भगवान् ने एक हजार मनुष्यों के साथ चित्रा नक्षत्र में निष्क्रमण किया।

२४. समाहित अरिष्टनेमि ने सुगन्ध से सुवासित, सुकुमार और घुँघराले बालों का पचमुष्टि से अपने-आप तुरन्त लोच किया।

२५. वासुदेव ने लुप्त-केश और जितेन्द्रिय भगवान् से कहा—"दमीश्वर ! तुम अपने इच्छित-मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो।

२६. "तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षान्ति और मुक्ति में बढ़ो।"

२७. इस प्रकार राम, केशव, दसार तथा दूसरे बहुत से लोग अरिष्टनेमि को वन्दना कर द्वारकापुरी लौट आए।

२८. अरिष्टनेमि के प्रव्रज्या की बात को सुन कर राजकन्या राजीमती अपनी हँसी, खुशी और आनन्द को खो बैठी। वह शोक से स्तब्ध हो गई।

२९. राजीमती ने सोचा—मेरे जीवन को धिक्कार है, जो अरिष्टनेमि के द्वारा परित्यक्त हूँ। अब मेरे लिए प्रव्रजित होना ही श्रेय है।

३०. धीर एवं कृत-निश्चय राजीमती ने कूर्च व कंघी से सँवारे हुए भौंरे जैसे काले केशों का अपने-आप लुंचन किया।

३१. वासुदेव ने लुप्त-केशा और जितेन्द्रिय राजीमती से कहा—"हे कन्ये ! तू घोर ससार-सागर का अतिशीघ्रता से पार प्राप्त कर।"

३२. शीलवती एवं बहुश्रुत राजीमती ने प्रव्रजित हो कर द्वारका में बहुत स्वजन और परिजन को प्रव्रजित किया।

३३. वह रैवतक पर्वत पर जा रही थी। बीच में वर्षा से भीग गई। वर्षा हो रही थी, अंधेरा छाया हुआ था, उस समय वह गुफा में ठहर गई।

३४ चीवरों को सुखाने के लिए फैलाती हुई राजीमती को रथनेमि ने नग्नरूप में देखा। वह भग्न चित्त हो गया। बाद में राजीमती ने भी उसे देख लिया।

३५ एकान्त में उस संयति को देख वह डरी और दोनों भुजाओं के गुम्फन से वक्ष को ढाँक कर काँपती हुई बैठ गई।

३६ उस समय समुद्रविजय के अंगज राज-पुत्र रथनेमि ने राजीमती को भीत और प्रकम्पित देख कर यह वचन कहा—

३७ "भद्रे! मैं रथनेमि हूँ। सुरूपे! चारुभाषिणि! तू मुझे स्वीकार कर। सुतनु! तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी।

३८ "आ, हम भोग भोगें। निश्चित ही मनुष्य-जीवन बहुत दुर्लभ है। भुक्त भोगी हो, फिर हम जिन-मार्ग पर चलेंगे।"

३९ रथनेमि को संयम में उत्साहहीन और भोगों से पराजित देख कर राजीमती सम्भ्रान्त नहीं हुई। उसने वहीं अपने शरीर को वस्त्रों से ढँक लिया।

४० नियम और व्रत में सुस्थित राजवर-कन्या राजीमती ने जाति, कुल और शील की रक्षा करते हुए रथनेमि से कहा—

४१ "यदि तू रूप से वैश्रमण है, लालित्य से नलकूबर है और तो क्या, यदि तू साक्षात् इन्द्र है तो भी मैं तुझे नहीं चाहती।

"(अगन्धन कुल में उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल, धूमशिख अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु—जीने के लिए—वमन किए हुए विष को वापिस पीने की इच्छा नहीं करते।)

४२ "हे यशःकामिन्! धिक्कार है तुझे। जो तू भोगी-जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है।

४३ "मैं भोज राज की पुत्री हूँ और तू अन्धक-वृष्णि का पुत्र। हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों। तू स्थिर मन होकर संयम का पालन कर।

४४ "यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग भाव करेगा तो वायु से आहत हट की तरह अस्थितात्मा हो जायेगा।

४५. "जैसे गोपाल और भाण्डपाल गायों और किराने के स्वामी नहीं होते, इसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नहीं होगा।

"(तू क्रोध और मान का निग्रह कर। माया और लोभ पर सब प्रकार से विजय पा। इन्द्रियों को अपने अधीन बना। अपने शरीर का उपसंहार कर—उसे अनाचार से निवृत्त कर।)"

४६. संयमिनी के इन सुभाषित वचनों को सुन कर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गया, जैसे अंकुश से हाथी होता है।

४८. वह मन, वचन और काया से गुप्त, जितेन्द्रिय तथा दृढ़व्रती हो गया। उसने फिर आजीवन निश्चल भाव से श्रामण्य का पालन किया।

४८. उग्र-तप का आचरण कर वे दोनों (राजीमती और रथनेमि) केवली हुए और सब कर्मों को खपा अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त हुए।

४९. सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं—वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुआ।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

तेईसवाँ अध्ययन

केशि-गौतमीय

१ पार्श्व नाम के जिन हुए। वे अर्हन्, लोक-पूजित, सबुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक और वीतराग थे।

२ लोक को प्रकाशित करने वाले उन भगवान् पार्श्व के केशी नामक शिष्य हुए। वे महान् यशस्वी, विद्या और आचार के पारगामी कुमार-श्रमण थे।

३ वे अवधि ज्ञान और श्रुत-सम्पदा से तत्त्वों को जानते थे। वे शिष्य-संघ से परिवृत होकर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती में आए।

४ उस नगर के पार्श्व में 'तिन्दुक' उद्यान था। वहाँ जीव-जन्तु रहित शय्या (मकान) और संस्तार (आसन) लेकर वे ठहर गए।

५ उस समय भगवान् वर्धमान विहार कर रहे थे। वे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक, जिन और समूचे लोक में विश्रुत थे।

६ लोक को प्रकाशित करने वाले उन भगवान् वर्धमान के गौतम नाम के शिष्य थे। वे महान् यशस्वी, भगवान् तथा विद्या और आचार के पारगामी थे।

७ वे बारह अंगों को जानने वाले और बुद्ध थे। शिष्य-संघ से परिवृत होकर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे भी श्रावस्ती में आ गए।

८ उस नगर के पास भाग में 'कोष्ठक' उद्यान था। वहाँ जीव जन्तु रहित शय्या और संस्तार लेकर वे ठहर गए।

९. कुमार-श्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनों वहाँ विहार कर रहे थे। वे आत्म-लीन और मन की समाधि से सम्पन्न थे।

१० उन दोनों के शिष्य-समूह संयत, तपस्वी, गुणवान् और त्रायी थे। वहाँ उनके मन में एक तर्क उत्पन्न हुआ।

११. यह हमारा धर्म कैसा है और यह उनका धर्म कैसा है ? आचार-धर्म[1] की व्यवस्था यह हमारी कैसी है और वह उनकी कैसी है ?

१२. जो चातुर्याम-धर्म है, इसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है और यह जो पच-शिक्षात्मक-धर्म है, इसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है।

१३ महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक[2] है और महामुनि पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है, वह अंतरीय और उत्तरीय वस्त्र वाली है। जबकि हम एक ही उद्देश्य से चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है ?

१४. उन दोनों—केशी और गौतम ने अपने-अपने शिष्यों की वितर्कणा को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया।

१५. गौतम ने विनय की मर्यादा का औचित्य देखा। केशी का कुल ज्येष्ठ था, इसलिए वे शिष्य-सघ को साथ लेकर तिंदुक वन में चले आए।

१६. कुमार-श्रमण केशी ने गौतम को आए देख कर सम्यक् प्रकार से उनका उपयुक्त आदर किया।

१७. उन्होंने तुरत ही गौतम को बैठने के लिए प्रासुक पयाल[3] और पांचवीं कुश नाम की घास दी।

१८. चन्द्र और सूर्य के समान शोभा वाले कुमार-श्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनों बैठे हुए शोभित हो रहे थे।

१९ वहां कौतूहल को ढूंढने वाले दूसरे-दूसरे सम्प्रदायों के अनेक साधु आए और हजारों-हजार गृहस्थ आए।

२०. देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर और अदृश्य भूतों का वहां मेला-सा हो गया।

२१. 'हे महाभाग ! मैं तुम्हें पूछता हूं'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—

---

१. आचार-धर्म—वेष-धारण आदि बाह्य क्रिया-कलाप।

२ भगवान् महावीर ने अचेल (निर्वस्त्र) या केवल अल्पमूल्य के सफेद वस्त्र वाले धर्म का निरूपण किया। भगवान् पार्श्वनाथ ने सन्तरुत्तर धर्म का निरूपण किया। अन्तर का अर्थ है—अन्तरीय (अधोवस्त्र) और उत्तर का अर्थ है—उत्तरीय (ऊपर का वस्त्र)।

३. पयाल—चार प्रकार के अनाजों के डठल।

२२. 'भंते ! जैसी इच्छा हो वैसे पूछो।' केशी ने प्रश्न करने की अनुज्ञा पाकर गौतम से इस प्रकार कहा—

२३ 'जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है और यह जो पंच शिक्षात्मक धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है।

२४ 'एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है? मेधाविन् ! धर्म के इन दो प्रकारों में तुम्हें सन्देह कैसे नहीं होता?

२५ केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—'धर्म के परम अर्थ की, जिसमें तत्त्वों का विनिश्चय होता है, समीक्षा प्रज्ञा से होती है।

२६ 'पहले तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड़ होते हैं। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड़ होते हैं। बीच के तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं, इसलिए धर्म के दो प्रकार किए हैं।

२७ 'पहले तीर्थंकर के साधुओं के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है। अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए मुनि के आचार का पालन करना कठिन है। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधु उसे यथावत् ग्रहण कर लेते हैं और उसका पालन भी सरलता से करते हैं।

२८ 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

२९ 'महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक है और महान् यशस्वी पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अन्तरीय और उत्तरीय वस्त्र वाली है।'

३० 'एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है? मेधाविन् ! वेष के इन प्रकारों में तुम्हें सन्देह कैसे नहीं होता?'

३१ केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—'विज्ञान से यथोचित जान कर ही धर्म के साधनों—उपकरणों की अनुमति दी गई है।

३२ 'लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई है। जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूँ', ऐसा ध्यान आते रहना—वेष धारण के इस लोक में ये प्रयोजन हैं।

३३ 'यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय-दृष्टि में उसके साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।'

३४ 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

३५. 'गौतम ! तुम हजारों-हजारों शत्रुओं के बीच खड़े हो। वे तुम्हें जीतने के लिए तुम्हारे सामने आ रहे हैं। तुमने उन्हें कैसे पराजित किया है ?'

३६. 'एक को जीत लेने पर पांच जीते गए। पांच को जीत लेने पर दस जीते गए। दसों को जीत लेने पर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूं।'

३७. 'शत्रु कौन कहलाता है?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

३८ 'एक न जीती हुई आत्मा ही शत्रु है। कषाय और इन्द्रियां शत्रु हैं। मुने ! मैं उन्हें जीत कर नीति के अनुसार विहार कर रहा हूं।'

३९. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।'

४०. 'इस संसार में बहुत जीव पाश से बन्धे हुए दीख रहे हैं। मुने ! तुम पाश से मुक्त और पवन की तरह प्रतिबंध-रहित होकर कैसे विहार कर रहे हो ?'

४१. 'मुने ! उन पाशों को सर्वथा काट कर, उपायों से विनष्ट कर मैं पाश-मुक्त और प्रतिबन्ध-रहित होकर विहार करता हूं।'

४२. 'पाश किसे कहा गया है ?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

४३. 'प्रगाढ राग-द्वेष और स्नेह भयंकर पाश हैं। मैं उन्हें काट कर मुनि-धर्म की नीति और आचार के साथ विहार करता हूं।'

४४. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

४५. 'गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न जो लता है जिसके विष-तुल्य फल लगते हैं, उसे तुमने कैसे उखाड़ा ?'

४६. 'उस लता को सर्वथा काट कर, जड से उखाड कर मैं मुनि-धर्म की नीति के अनुसार विहार करता हूं, इसलिए मैं विष-फल के खाने से मुक्त हूं।'

४७. 'लता किसे कहा गया है ?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

४८. 'भव-तृष्णा को लता कहा गया है। वह भयंकर है और उसमें भयंकर फलों का परिपाक होता है। महामुने ! मैं उसे उखाड़ कर मुनि-धर्म की नीति के अनुसार विहार करता हूं।'

४९. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

५०. गौतम ! घोर अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं जो शरीर में रहती हुई मनुष्य को जला रही हैं। उन्हें तुमने कैसे बुझाया ?'

५१. 'महामेघ से उत्पन्न निर्झर से सब जलों में उत्तम जल लेकर मैं उन्हें सींचता रहता हूँ। वे सींची हुई अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।'

५२. 'अग्नि किसे कहा गया है ?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

५३. 'कषायों को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और तप यह जल है। श्रुत की धारा से आहत किए जाने पर निस्तेज बनी हुई वे मुझे नहीं जलातीं।

५४. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

५५. यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट अश्व दौड़ रहा है। गौतम ! तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता ?'

५६. 'मैंने इसे श्रुत की लगाम से बांध लिया है। जब वह उन्मार्ग की ओर दौड़ता है तब मैं उस पर रोक लगा देता हूँ। इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग को नहीं जाता मार्ग में ही चलता है।'

५७. 'अश्व किसे कहा गया है ?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

५८. 'यह जो साहसिक भयंकर, दुष्ट अश्व दौड़ रहा है वह मन है। उसे मैं भली भांति अपने अधीन रखता हूँ। धर्म शिक्षा द्वारा यह उत्तम जाति का अश्व हो गया है।'

५९. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।'

६०. 'लोक में कुमार्ग बहुत हैं जिन पर चलने वाले लोग भटक जाते हैं। गौतम ! मार्ग में चलते हुए तुम कैसे नहीं भटकते ?'

६१. 'जो मार्ग से चलते हैं और जो उन्मार्ग से चलते हैं वे सब मुझे ज्ञात हैं। मुने ! इसलिए मैं नहीं भटक रहा हूँ।'

६२ 'मार्ग किसे कहा गया है?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

६३. 'जो कुप्रवचन के व्रती हैं, वे सब उन्मार्ग की ओर जा रहे हैं। जो राग-द्वेष को जीतने वाले जिन ने कहा है, वह सन्मार्ग है, क्योंकि वह सबसे उत्तम मार्ग है।'

६४. 'गौतम! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

६५. 'मुने! महान जल-प्रवाह के वेग से बहते हुए जीवों के लिए तुम शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप किसे मानते हो?'

६६ 'जल के मध्य में एक लम्बा-चौड़ा महाद्वीप है। वहां महान् जल-प्रवाह की गति नहीं है।'

६७ 'द्वीप किसे कहा गया है?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

६८. 'जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।'

६९. 'गौतम! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

७०. 'महा प्रवाह वाले समुद्र में नौका शीघ्र गति से चली जा रही है। गौतम! तुम उसमें आरूढ़ हो। उस पार कैसे पहुंच पाओगे?'

७१. 'जो छेद वाली नौका होती है, वह उस पार नहीं जा पाती। किन्तु जो नौका छेद वाली नहीं होती, वह उस पार चली जाती है।'

७२. 'नौका किसे कहा गया है?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

७३. 'शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है। महान् मोक्ष की एषणा करने वाले इसे तैर जाते हैं।'

७४. 'गौतम! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

७५. 'लोगों को अन्ध बनाने वाले घोर तिमिर में बहुत लोग रह रहे हैं। इस समूचे लोक में उन प्राणियों के लिए प्रकाश कौन करेगा?'

७६ 'समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक विमल भानु उगा है। वह समूचे लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

७७ 'भानु किसे कहा गया है?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

७८ 'जिसका संसार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है वह अर्हत्-रूपी भास्कर समूचे लोक के प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

७९. 'गौतम! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

८० 'मुने! शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित हुए प्राणियों के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान किसे मानते हो?'

८१ 'लोक के अग्रभाग में एक वैसा शाश्वत स्थान है जहाँ पहुँच पाना कठिन है और जहाँ नहीं है—जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना।'

८२ 'स्थान किसे कहा गया है?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

८३ 'जो निर्वाण है, जो अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है, जिसे महान् की एषणा करने वाले प्राप्त करते हैं,

८४ 'भव प्रवाह का अन्त करने वाले मुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते हैं, जो लोक के शिखर में शाश्वत रूप से अवस्थित है, जहाँ पहुँच पाना कठिन है, उसे मैं स्थान कहता हूं।'

८५ 'गौतम! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। हे संशयातीत! हे सर्वसूत्र-महोदधि! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं।'

८६-८७ इस प्रकार संशय दूर होने पर घोर-पराक्रम वाले केशी ने महान् यशस्वी गौतम को सिर से अभिनन्दन कर पंचमहाव्रतात्मक धर्म को भावना से स्वीकार किया। वे पूर्व मार्ग से सुखावह पश्चिम मार्ग में प्रविष्ट हुए।

८८ उस वन में होने वाला केशी और गौतम का सतत मिलन श्रुत और शील का उत्कर्ष करने वाला और महान प्रयोजन वाले अर्थों का विनिश्चय करने वाला था।

८९. जिसकी यति-विधि से सारी परिषद् को सन्तोष हुआ और वह सन्मार्ग पर उपस्थित हुई, वे परिषद् द्वारा प्रशंसित भगवान केशी और गौतम प्रसन्न हों।

—ऐसा मैं कहता हूं।

चौवीसवाँ अध्ययन

प्रवचन-माता

१. आठ प्रवचन-माताएँ[1] हैं—समिति और गुप्ति। समितियाँ पाँच और गुप्तियाँ तीन।

२. ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-समिति, उच्चार-समिति, मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति और आठवीं काय-गुप्ति है।

३. ये आठ समितियाँ[2] संक्षेप में कही गई हैं। इनमें जिन-भाषित द्वादशांग-रूप प्रवचन समाया हुआ है।

४. संयमी मुनि आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों से परिशुद्ध गति से चले।

५. इनमें ईर्या का आलम्बन ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। उसका काल दिवस है और उत्पथ का वर्जन करना उसका मार्ग है।

६. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना चार प्रकार की कही गई है। वह मैं कह रहा हूँ, सुनो।

७. द्रव्य से—आँखों से देखे। क्षेत्र से—युग-मात्र[3] भूमि को देखे। काल से—जब तक चले तब तक देखे। भाव से—उपयुक्त (गमन में दत्तचित्त) रहे।

---

१. प्रवचन-माता—पाँच समितियों और तीन गुप्तियों—इन आठों में सारा निर्ग्रन्थ प्रवचन समा जाता है इसलिए अथवा इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है इसलिए इन्हें प्रवचन-माता कहा जाता है।

२. समितियाँ केवल पाँच ही हैं किन्तु यहाँ आठ समितियों का उल्लेख हुआ है। तीन गुप्तियों को समिति के अंतर्गत मानने का कारण यह है कि गुप्तियाँ केवल निवृत्यात्मक ही नहीं होतीं किन्तु प्रवृत्यात्मक भी होती हैं। इसी अपेक्षा से उन्हें समिति कहा गया है।

३. युग-मात्र—शरीर या गाड़ी के जुए जितनी लंबी।

८ इन्द्रियों के विषयों और पाँच प्रकार के स्वाध्याय का वर्जन कर, ईर्या में तन्मय हो उसे प्रमुख बना उपयोग पूर्वक चले।

९ क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा के प्रति सावधान रहे—इनका प्रयोग न करे।

१० प्रज्ञावान् मुनि इन आठ स्थानों का वर्जन कर यथासमय निरवद्य और परिमित वचन बोले।

११ आहार, उपधि और शय्या के विषय में गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा—इन तीनों का विशोधन करे।

१२ यतनाशील यति प्रथम एषणा (गवेषणा-एषणा) में उद्गम और उत्पादन—दोनों का शोधन करे। दूसरी एषणा (ग्रहण-एषणा) में एषणा (ग्रहण) सम्बन्धी दोषों का शोधन करे और परिभोगैषणा में दोष-चतुष्क[1] का शोधन करे।

१३ मुनि ओघ उपधि[2] और औपग्रहिक-उपधि[3]—दोनों प्रकार के उपकरणों को लेने और रखने में इस विधि का प्रयोग करे—

१४ सदा सम्यक्-प्रवृत्त और यतनाशील यति दोनों प्रकार के उपकरणों का चक्षु से प्रतिलेखन कर तथा रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर उन्हें ले और रखे।

१५ उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक का मैल, मैल, आहार, उपधि, शरीर या उसी प्रकार की दूसरी कोई उत्सर्ग करने योग्य वस्तु का उपयुक्त स्थण्डिल में उत्सर्ग करे।

१६ स्थण्डिल चार प्रकार के होते हैं—

१ अनापात-असंलोक—जहाँ लोगों का आवागमन न हो, वे दूर से भी न दीखते हों।

२ अनापात-संलोक—जहाँ लोगों का आवागमन न हो किन्तु वे दूर से दीखते हों।

३ आपात-असंलोक—जहाँ लोगों का आवागमन हो किन्तु वे दूर से न दीखते हों।

---

१ संयोजना, अप्रमाण, अंगार धूम और कारण—ये चार दोष हैं।

२ ओघ-उपधि—स्थायी रूप से रखा जाने वाला सामान्य उपकरण।

३ औपग्रहिक उपधि—विशेष कारण वश रखा जाने वाला उपकरण।

४. आपात-संलोक—जहाँ लोगों का आवागमन भी हो और वे दूर से दिखते भी हों।

१७. जो स्थण्डिल अनापात-असंलोक, दूसरे के लिए अनुपघातकारी, सम, पोल या दरार रहित, कुछ समय पहले ही निर्जीव बना हुआ—

१८. कम से कम एक हाथ विस्तृत तथा नीचे से चार अंगुल तक निर्जीव परत वाला, गाँव आदि से दूर, बिल रहित और त्रस प्राणी तथा बीजों से रहित हो—उसमें उच्चार आदि का उत्सर्ग करे।

१९. ये पाँच समितियाँ संक्षेप में कही गई हैं। यहाँ से क्रमशः तीन गुप्तियाँ कहूँगा।

२०. सत्या, मृषा, सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा—इस प्रकार मनो-गुप्ति के चार प्रकार हैं।

२१. यतनाशील यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान मन का निवर्तन करे।

२२. सत्या, मृषा, सत्यामृषा और असत्यामृषा—इस प्रकार वचन-गुप्ति के चार प्रकार हैं।

२३. यतनाशील यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान वचन का निवर्तन करे।

२४. यतनाशील यति बैठने, लेटने, उल्लंघन-प्रलंघन करने और इन्द्रियों के व्यापार में—

२५. संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान काया का निवर्तन करे।

२६. ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं और तीन गुप्तियाँ सब अशुभ विषयों से निवृत्ति करने के लिए हैं।

२७ जो पण्डित मुनि इन प्रवचन-माताओं का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही सर्व संसार से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पचीसवाँ अध्ययन

यज्ञीय

१ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न एक महान् यशस्वी विप्र था। वह जीव महारूप यज्ञ में लगा रहता था। उसका नाम था जयघोष।

२ वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला मार्ग-गामी महामुनि हो गया। एक गाँव से दूसरे गाँव जाता हुआ वह वाराणसी पुरी पहुँच गया।

३ वाराणसी के बाहर मनोरम उद्यान में प्रासुक शय्या और बिछौना लेकर वहीं रहा।

४ उसी समय उस पुरी में वेदों का जानने वाला विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ करता था।

५ वह जयघोष मुनि एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए विजयघोष के यज्ञ में भिक्षा लेने को उपस्थित हुआ।

६ यज्ञ-कर्ता ने वहाँ उपस्थित हुए मुनि को निषेध की भाषा में कहा—भिक्षो! तुम्हें भिक्षा नहीं दूँगा और कहीं याचना करो।

७-८. 'हे भिक्षो! यह सबके द्वारा अभिलषित भोजन उन्हीं को देना है जो वेदों को जानने वाले विप्र हैं, यज्ञ के लिए जो द्विज हैं, जो वेद के ज्योतिष आदि छहों अंगों[1] को जानने वाले हैं, जो धर्म-शास्त्रों के पारगामी हैं, जो अपना और पर का उद्धार करने में समर्थ हैं।'

९ वह उत्तम अर्थ (मोक्ष) की गवेषणा करने वाला महामुनि वहाँ यज्ञकर्ता के द्वारा प्रतिषेध किए जाने पर न रुष्ट ही हुआ और न तुष्ट ही।

१० न अन्न के लिए, न जल के लिए और न किसी जीवन निर्वाह के साधन के लिए किन्तु उन ब्राह्मणों की विमुक्ति के लिए मुनि ने इस प्रकार कहा—

---

[1] वेद के छह अंग ये हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष।

११. "तू वेद के मुख को नहीं जानता। यज्ञ का जो मुख है, उसे भी नहीं जानता। नक्षत्र का जो मुख है और धर्म का जो मुख है, उसे भी नहीं जानता।

१२ "जो अपना और पर का उद्धार करने में समर्थ हैं, उन्हें तू नहीं जानता। यदि जानता है तो बता।"

१३. मुनि के प्रश्न का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाते हुए द्विज ने परिषद् सहित हाथ जोड़ कर उस महामुनि से पूछा—

१४ "तुम कहो, वेदों का मुख क्या है? यज्ञ का जो मुख है वह तुम्हीं बतलाओ। तुम कहो, नक्षत्रों का मुख क्या है? धर्मों का मुख क्या है, तुम्हीं बतलाओ।

१५. "जो अपना और पर का उद्धार करने में समर्थ हैं (उनके विषय में तुम्हीं कहो)। हे साधु! यह मुझे सारा संशय है, तुम मेरे प्रश्नों का समाधान दो।"

१६. "वेदों का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञों का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है और धर्मों का मुख काश्यप—ऋषभदेव है।

१७. "जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्मुख ग्रह आदि हाथ जोड़े हुए, वन्दना-नमस्कार करते हुए और विनीत भाव से मन का हरण करते हुए रहते हैं उसी प्रकार भगवान् ऋषभ के सम्मुख सब लोग रहते थे।

१८. "जो यज्ञ-वादी हैं वे ब्राह्मण की सम्पदा—विद्या से अनभिज्ञ हैं। वे बाहर से स्वाध्याय और तपस्या से उसी प्रकार ढँके हुए हैं जिस प्रकार अग्नि राख से ढँकी हुई होती है।

१९ "जिसे कुशल पुरुषों ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि की भाँति सदा लोक में पूजित है, उसे हम कुशल पुरुष द्वारा कहा हुआ ब्राह्मण कहते हैं।

२०. "जो आने पर आसक्त नहीं होता, जाने के समय शोक नहीं करता, जो आर्य-वचन में रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२१. "अग्नि में तपा कर शुद्ध किए हुए और घिसे हुए सोने की तरह जो विशुद्ध है तथा राग-द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

"(जो तपस्वी है, कृश है, दान्त है, जिसके मांस और शोणित का अपचय हो चुका है, जो सुव्रत है, जो शान्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।)

२२. "जो त्रस और स्थावर जीवों को भलीभाँति जान कर मन, वाणी और शरीर से उनकी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२३ "जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय के कारण असत्य नहीं बोलता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२४ "जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, थोड़ा या अधिक कितना ही क्यों न हो, उसके अधिकारी के दिए बिना नहीं लेता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२५. "जो देव मनुष्य और तिर्यञ्च संबंधी मैथुन का मन, वचन और काया से सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२६ "जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार काम भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२७ "जो लोलुप नहीं है जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृह-त्यागी है जो अकिंचन है, जो गृहस्थों में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

"(जो पूर्व-संयोगों, ज्ञाति जनों की आसक्ति और बांधवों को छोड़ कर उनमें आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।)

२८ "जिनके शिक्षा-पद पशुओं को बलि के लिए यज्ञ स्तूपों में बांधे जाने के हेतु बनते हैं वे सब वेद और पशु-बलि आदि पाप-कर्म के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ दुराचार-सम्पन्न उस यज्ञ-कर्ता का त्राण नहीं देते, क्योंकि कर्म बलवान् होते हैं।

२९. "केवल सिर मूंड लेने से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता।

३० "समभाव की साधना करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है ज्ञान की आराधना—मनन करने से मुनि होता है, तप का आचरण करने से तापस होता है।

३१ "मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

३२ "इन तत्त्वों को अर्हत् ने प्रकट किया है। इनके द्वारा जो मनुष्य स्नातक होता है जो सब कर्मों से मुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

३३ "इस प्रकार जो गुण-सम्पन्न द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना और पर का उद्धार करने में समर्थ हैं।"

३४. इस प्रकार संशय दूर होने पर विजयघोष ब्राह्मण ने जयघोष की वाणी को भली-भाँति समझा और—

३५. महामुनि जयघोष से संतुष्ट हो, हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहा—"तुमने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा अर्थ समझाया है।

३६. "तुम यज्ञों के यज्ञकर्ता हो, तुम वेदों को जानने वाले विद्वान् हो, तुम वेद के ज्योतिष आदि छहों अंगों को जानते हो, तुम धर्मों के पारगामी हो।

३७. "तुम अपना और पर का उद्धार करने में समर्थ हो, इसलिए हे भिक्षु-श्रेष्ठ! तुम हम पर भिक्षा लेने का अनुग्रह करो।"

३८. "मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। हे द्विज! तू तुरन्त ही निष्क्रमण कर मुनि-जीवन को स्वीकार कर, जिससे भय के आवर्तों से आकीर्ण इस घोर संसार-सागर में तुझे चक्कर लगाना न पड़े।

३९. "भोगों में उपलेप होता है। अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में भ्रमण करता है। अभोगी इससे मुक्त हो जाता है।

४०. "मिट्टी के दो गोले—एक गीला और एक सूखा—फेंके गए। दोनों भींत पर गिरे। जो गीला था वह वहीं चिपक गया।

४१. "इसी प्रकार जो मनुष्य दुर्बुद्धि और काम-भोगों में आसक्त होते हैं, वे विषयों से चिपट जाते हैं। जो विरक्त होते हैं, वे उनसे नहीं चिपटते, जैसे सूखा गोला।"

४२. इस प्रकार वह विजयघोष जयघोष अनगार के समीप अनुत्तर धर्म सुन कर प्रव्रजित हो गया।

४३. जयघोष और विजयघोष ने संयम और तप के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

छब्बीसवाँ अध्ययन

सामाचारी

१ मैं सब दुःखों से मुक्त करने वाली उस सामाचारी का निरूपण करूँगा, जिसका आचरण कर निर्ग्रन्थ संसार-सागर को तर गये।

२ पहली आवश्यकी, दूसरी नैषेधिकी, तीसरी आपृच्छना, चौथी प्रतिपृच्छना—

३ पाँचवीं छन्दना, छठी इच्छाकार, सातवीं मिथ्याकार, आठवीं तथाकार—

४ नौवीं अभ्युत्थान, दसवीं उपसंपदा। भगवान् ने इन दस अंग वाली साधुओं की सामाचारी का निरूपण किया है।

५ (१) स्थान से बाहर जाते समय आवश्यकी करे—'आवस्सही' का उच्चारण करे।

(२) स्थान में प्रवेश करते समय नैषेधिकी करे—'निस्सिही' का उच्चारण करे।

(३) अपना कार्य करने से पूर्व आपृच्छा करे—गुरु से अनुमति ले।

(४) एक कार्य से दूसरा कार्य करते समय प्रतिपृच्छा करे—गुरु से पुन अनुमति ले।

६ (५) पूर्व-गृहीत द्रव्यों से छन्दना करे—गुरु आदि को निमन्त्रित करे।

(६) सारणा (औचित्य से कार्य करने और कराने) में इच्छाकार का प्रयोग करे—आपकी इच्छा हो तो मैं आप का अमुक कार्य करूँ। आपकी इच्छा हो तो कृपया मेरा अमुक कार्य करें।

(७) अनाचरित की निन्दा के लिए मिथ्याकार का प्रयोग करे।

(८) प्रतिश्रवण (गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश की स्वीकृति) के लिए तथाकार (यह ऐसे ही है) का प्रयोग करे।

७ (९) गुरु-पूजा (आचार्य, ग्लान, बाल आदि साधुओं) के लिए अभ्युत्थान करे—आहार आदि लाए।

(१०) दूसरे गण के आचार्य आदि के पास रहने के लिए उपसम्पदा ले—मर्यादित काल तक उनका शिष्यत्व स्वीकार करे ।

इस प्रकार दश-विध सामाचारी का निरूपण किया गया है ।

८. सूर्य के उदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड-उपकरणों की प्रतिलेखना करे । तदनन्तर गुरु को वन्दना कर—

९. हाथ जोड कर पूछे—अब मुझे क्या करना चाहिये ? भन्ते ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे वैयावृत्य या स्वाध्याय में से किसी एक कार्य में नियुक्त करें ।

१०. वैयावृत्य मे नियुक्त किये जाने पर अग्लान भाव से वैयावृत्य अथवा सर्व दुःखों से मुक्त करने वाले स्वाध्याय में नियुक्त किये जाने पर अग्लान भाव से स्वाध्याय करे ।

११. विचक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे । उन चार भागो में उत्तर-गुणों (स्वाध्याय आदि) की आराधना करे ।

१२. पहले प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे मे ध्यान करे । तीसरे में भिक्षाचरी और चौथे मे पुनः स्वाध्याय करे ।

१३. आषाढ मास मे दो पाद प्रमाण, पौष मास मे चार पाद प्रमाण, चैत्र तथा आश्विन मास मे तीन पाद प्रमाण पौरुषी होती है ।

१४. सात दिन-रात मे एक अंगुल, पक्ष मे दो अंगुल और एक मास में चार अगुल वृद्धि और हानि होती है ।[१]

१५. आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख—इनके कृष्ण-पक्ष मे एक-एक अहोरात्र (तिथि) का क्षय होता है ।

१६. ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण इस प्रथम-त्रिक मे छह, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक इस द्वितीय-त्रिक मे आठ, मृगशिर, पौष, माघ इस तृतीय-त्रिक में दश और फाल्गुन, चैत्र, वैशाख इस चतुर्थ-त्रिक में आठ अगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखना का समय होता है ।

१७. विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे । उन चारो भागों में उत्तर-गुणो की आराधना करे ।

---

१. श्रावण मास से पौष मास तक वृद्धि और माघ से आषाढ़ तक हानि होती है ।

१८ पहले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

१९ जो नक्षत्र जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह (नक्षत्र) जब आकाश के चतुर्थ भाग में आए (प्रथम प्रहर समाप्त हो) तब प्रदोष-काल (रात्रि के प्रारम्भ) में प्रारब्ध स्वाध्याय से विरत हो जाए।

२० वही नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग में शेष रहे तब वैरात्रिक काल[1] आया हुआ जानकर फिर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाए।

२१ दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन करे, गुरु को वन्दना करे, दुःख से मुक्त करने वाला स्वाध्याय करे।

२२ पौन पौरुषी बीत जाने पर गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण—कायोत्सर्ग किये बिना ही भाजन की प्रतिलेखना करे।

२३ मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छग की प्रतिलेखना करे। गोच्छग को अंगुलियों से पकड़ कर भाजन को ढांकने के पटलों की प्रतिलेखना करे।

२४ सबसे पहले ऊकड़ू आसन में बैठ वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किये बिना उसकी प्रतिलेखना करे—चक्षु से देखे। दूसरे में वस्त्र को झड़काए और तीसरे में वस्त्र की प्रमार्जना करे।

२५ प्रतिलेखना करते समय (१) वस्त्र या शरीर को न नचाए (२) न मोड़े (३) वस्त्र के दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे (४) वस्त्र का भीत आदि से स्पर्श न करे (५) वस्त्र के छह पूर्व और नौ खोटक करे और (६) जो कोई प्राणी हो उसका हाथ पर नौ बार विशोधन (प्रमार्जन) करे।

२६ मुनि प्रतिलेखना के इन दोषों का वर्जन करे—

(१) आरभटा—विधि से विपरीत प्रतिलेखन करना अथवा एक वस्त्र का पूरा प्रतिलेखन किए बिना आकुलता से दूसरे वस्त्र को ग्रहण करना।

(२) सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकड़ना कि उसके बीच में सलवटें पड़ जाएं अथवा प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठ कर प्रतिलेखना करना।

---

१ वैरात्रिक काल—रात का चौथा प्रहर।

(३) मोसली—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे किसी वस्त्र या पदार्थ से संघट्टित करना।

(४) प्रस्फोटना—प्रतिलेखन करते समय रज-लिप्त वस्त्र को गृहस्थ की तरह वेग से झटकना।

(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखित वस्त्रों को अप्रतिलेखित वस्त्रों पर रखना अथवा वस्त्र के अञ्चल को इतना ऊँचा उठाना कि उसकी प्रतिलेखना न हो सके।

(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पार्श्व में हाथ रखना अथवा घुटनों को भुजाओं के बीच रखना।

२७. मुनि प्रतिलेखना के निम्न दोषों का वर्जन करे—

(१) प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकड़ना।

(२) प्रलम्ब—वस्त्र को विषमता से पकड़ने के कारण कोनों का लटकना।

(३) लोल—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का हाथ या भूमि से संघर्षण करना।

(४) एकामर्शा—वस्त्रों को बीच में से पकड़ कर उसके दोनों पार्श्वों का एक बार में ही स्पर्श करना—एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्रको देख लेना।

(५) अनेक रूप धूनना—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकना अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ झटकना।

(६) प्रमाण-प्रमाद—प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (नौ-नौ बार करना) बतलाया है, उसमें प्रमाद करना।

(७) गणनोपगणना—प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण में शङ्का होने पर उसकी गिनती करना।

२८. वस्त्र के प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण से अन्यून-अनतिरिक्त और अविपरीत प्रतिलेखना करनी चाहिए। इन तीनों विशेषणों के आधार पर प्रतिलेखना के आठ विकल्प बनते हैं। इनमें प्रथम विकल्प (अन्यून-अनतिरिक्त और अविपरीत) प्रशस्त है और शेष अप्रशस्त।

२९, [illegible]

३० [illegible]

[[illegible]]

३१ [illegible]

३२ (१) [illegible]
(२) [illegible]
(३) [illegible]
(४) [illegible]
(५) [illegible]
(६) [illegible]

३३ [illegible]

३४ (१) [illegible]
(२) [illegible]
(३) [illegible]
(४) [illegible]
(५) [illegible]
(६) [illegible]

३५ [illegible]

३६ [illegible]

३७. चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में पौन पौरुषी बीत जाने पर स्वाध्याय के पश्चात् गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर शय्या की प्रतिलेखना करे।

३८. यतनाशील यति फिर प्रस्रवण और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना करे। तदनन्तर सर्व-दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

३९. ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्बन्धी दैवसिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४०. कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से दैवसिक अतिचार की आलोचना करे।

४१. प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे। फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४२. कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे। फिर स्तुति-मङ्गल करके काल की प्रतिलेखना करे।

४३. पहले प्रहर में स्वाध्याय[1], दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

४४. चौथे प्रहर में काल की प्रतिलेखना कर असंयत व्यक्तियों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे।

४५. चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर काल की प्रतिलेखना करे।

४६. सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला काय-व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) का समय आने पर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४७. ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप-सम्बन्धी रात्रिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४८. कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से रात्रिक अतिचार की आलोचना करे।

४९. प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे, फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

५०. मैं कौन-सा तप ग्रहण करूँ—कायोत्सर्ग में ऐसा चिन्तन करे। कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे।

---

१. स्वाध्याय काल से निवृत्त होकर।

२१ [illegible]

२२ [illegible]

—[illegible]

सताईसवाँ अध्ययन

खलुंकीय

१. एक गर्ग नामक मुनि हुआ। वह स्थविर, गणधर और शास्त्र-विशारद था। वह गुणो मे आकीर्ण गणी पद पर स्थित होकर समाधि का प्रतिसन्धान करता था।

२. वाहन को वहन करते हुए बैल के अरण्य स्वयं उल्लंघित हो जाता है, वैसे ही योग को वहन करते हुए मुनि के संसार स्वयं उल्लंघित हो जाता है।

३. जो अयोग्य बैलो को जोतता है वह उनको आहत करता हुआ क्लेश पाता है। उसे असमाधि का संवेदन होता है और उसका चाबुक टूट जाता है।

४. वह क्रुद्ध हुआ वाहक किसी एक की पूछ को काट देता है और किसी एक को बार-बार बींधता है। तब कोई अयोग्य बैल जुए की कील को तोड़ उत्पथ में प्रस्थान कर जाता है।

५. कोई एक पार्श्व से गिर पडता है, कोई बैठ जाता है तो कोई लेट जाता है। कोई कूदता है, कोई उछलता है तो कोई शठ तरुण गाय की ओर भाग जाता है।

६. कोई धूर्त बैल शिर को निढाल बना कर लुट जाता है तो कोई क्रुद्ध होकर पीछे की ओर चलता है। कोई मृतक-सा बन कर गिर जाता है तो कोई वेग से दौड़ता है।

७. छिनाल वृषभ रास को छिन्न-भिन्न कर देता है, दुर्दान्त होकर जुए को तोड़ देता है और सो-सो कर वाहन को छोड़ कर भाग जाता है।

८. जुते हुए अयोग्य बैल जैसे वाहन को भग्न कर देते हैं, वैसे ही दुर्बल धृति वाले शिष्यो को धर्म-यान मे जोत दिया जाता है तो वे उसे भग्न कर डालते हैं।

९. कोई शिष्य ऋद्धि का गौरव करता है तो कोई रस का गौरव करता है, कोई साता का गौरव करता है तो कोई चिरकाल तक क्रोध रखने वाला होता है।[1]

अठाईसवां अध्ययन

मोक्ष-मार्ग-गति

१. चार कारणों से संयुक्त, ज्ञान-दर्शन लक्षण वाली, जिन-भाषित मोक्ष-मार्ग की गति को सुनो।

२. ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मोक्ष-मार्ग है, ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया।

३. ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति में जाते हैं।

४. ज्ञान पांच प्रकार का है—श्रुत ज्ञान, आभिनिबोधिक ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः ज्ञान और केवल ज्ञान[1]।

५. यह पांच प्रकार का ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण और पर्यायों का अवबोधक है—ऐसा ज्ञानियों ने बतलाया है।

६. जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है। जो किसी एक द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण[2] होते हैं। द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहना पर्याय का लक्षण है।

---

१. (क) श्रुत ज्ञान—आगम या अन्य शास्त्रों से अथवा शब्द, संकेत आदि से होने वाला ज्ञान।
(ख) आभिनिबोधिक ज्ञान—वर्तमानग्राही इन्द्रिय-ज्ञान।
(ग) अवधि ज्ञान— मूर्त्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान।
(घ) मनःज्ञान (मन:पर्यव ज्ञान)—मानसिक ज्ञान। मन के पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान।
(ङ) केवल ज्ञान—निरावरण ज्ञान। सम्पूर्ण ज्ञान।
(विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तराध्ययन (सटिप्पण संस्करण)।

२. गुण—द्रव्य का सहभावी धर्म, व्यवच्छेदक धर्म।

७ धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य हैं। यह षड्द्रव्यात्मक जो है वही लोक है—ऐसा वरदर्शी जिनों ने प्ररूपित किया है।

८ धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनन्त-अनन्त हैं।

९ धर्म का लक्षण है गति, अधर्म का लक्षण है स्थिति और आकाश सब द्रव्यों का भाजन है। उसका लक्षण है अवकाश।

१० वर्तना काल का लक्षण है। जीव का लक्षण है उपयोग। वह ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख से जाना जाता है।

११ ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये जीव के लक्षण हैं।

१२ शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं।

१३ एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग—ये पर्यायों के लक्षण हैं।

१४ जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तथ्य (तत्त्व) हैं।

१५ इन तथ्य भावों के सद्भाव[1] के निरूपण में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है, उसे सम्यक्त्व होता है। उस अन्तःकरण की श्रद्धा को ही भगवान् ने सम्यक्त्व कहा है।

१६ वह दस प्रकार का है—निसर्ग-रुचि[2], उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि, अभिगम-रुचि, विस्तार-रुचि, क्रिया-रुचि, संक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि।

१७ जो परोपदेश के बिना केवल अपनी आत्मा से उपजे हुए यथार्थ ज्ञान से जीव, अजीव, पुण्य, पाप को जानता है और जो आस्रव और संवर पर श्रद्धा करता है, वह निसर्ग-रुचि है।

१८ जो जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशेषित पदार्थों पर स्वयं ही—"यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं है"—ऐसी श्रद्धा रखता है, उसे निसर्ग-रुचि वाला जानना चाहिए।

१९ जो दूसरों—छद्मस्थ या जिन—के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, इन भावों पर श्रद्धा करता है, उसे उपदेश-रुचि वाला जानना चाहिए।

---

१ सद्भाव—वास्तविक अस्तित्व।
२ रुचि—तत्त्व की श्रद्धा, सम्यक्त्व।

२०. जो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के दूर हो जाने पर वीतराग की आज्ञा में रुचि रखता है, वह आज्ञा-रुचि है।

२१. जो अंग-प्रविष्ट या अंग-बाह्य सूत्रों को पढ़ता हुआ सम्यक्त्व पाता है, वह सूत्र-रुचि है।

२२. पानी में डाले हुए तेल की बूंद की तरह जो सम्यक्त्व एक पद से अनेक पदों में फैलता है, उसे बीज-रुचि जानना चाहिए।

२३. जिसे ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद आदि श्रुत-ज्ञान अर्थ सहित प्राप्त हैं, वह अभिगम-रुचि है।

२४. जिसे द्रव्यों के सब भाव, सभी प्रमाणों और सभी नय-विधियों से उपलब्ध हैं, वह विस्तार-रुचि है।

२५. दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में जिनकी वास्तविक रुचि है, वह क्रिया-रुचि है।

२६. जो जिन-प्रवचन में विशारद नहीं है और अन्यान्य प्रवचनों का अभिज्ञ भी नहीं है, किन्तु जिसे कुदृष्टि का आग्रह न होने के कारण स्वल्प मात्रा से जो तत्त्व-श्रद्धा प्राप्त होती है, उसे संक्षेप-रुचि जानना चाहिए।

२७. जो जिन-प्ररूपित अस्तिकाय-धर्म, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म में श्रद्धा रखता है, उसे धर्म-रुचि जानना चाहिए।

२८. परमार्थ का परिचय, जिन्होंने परमार्थ को देखा है उनकी सेवा, सम्यक्त्व से भ्रष्ट और कुदर्शनी व्यक्तियों का वर्जन, यह सम्यक्त्व का श्रद्धान है।

२९. सम्यक्त्व-विहीन चारित्र नहीं होता। सम्यक्त्व में चारित्र की भजना है। सम्यक्त्व और चारित्र एक साथ उत्पन्न होते हैं और जहाँ वे एक साथ उत्पन्न नहीं होते, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है।

३० असम्यक्त्वी के ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) नहीं होता। ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होते। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। अमुक्त का निर्वाण नहीं होता।

३१ निःशंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टि, उपबृंहण स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना—ये आठ सम्यक्त्व के अंग हैं।[1]

३२ चारित्र पाँच प्रकार के होते हैं पहला—सामायिक, दूसरा—छेदोपस्थापनीय, तीसरा—परिहार विशुद्धि, चौथा—सूक्ष्म-सम्पराय और—

३३ पाँचवाँ—यथाख्यात-चारित्र कषाय रहित होता है। वह छद्मस्थ और केवली—दोनों के होता है। ये सभी चारित्र कर्म-संचय को रिक्त करते हैं, इसीलिए इन्हें चारित्र कहा जाता है।

३४ तप दो प्रकार का कहा है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का कहा है। इसी प्रकार आभ्यन्तर-तप छह प्रकार का है।

३५. जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है।

३६ सर्व दुःखों से मुक्ति पाने का लक्ष्य रखने वाले महर्षि संयम और तप के द्वारा पूर्व-कर्मों का क्षय कर सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ (१) निःशंका—जिन भाषित तत्त्व के प्रति असंदेहशीलता।
(२) निष्कांक्षा—एकान्त दृष्टि वाले दर्शनों के स्वीकार की अनिच्छा।
(३) निर्विचिकित्सा—धर्म-फल में असंदेह।
(४) अमूढदृष्टि—मोहमयी दृष्टि का अभाव।
(५) उपबृंहण—सम्यक् दर्शन की पुष्टि।
(६) स्थिरीकरण—धर्म मार्ग से विचलित व्यक्तियों को पुनः धर्म में स्थिर करना।
(७) वात्सल्य—साधर्मिकों के प्रति वत्सल भाव।
(८) प्रभावना—जिन शासन की महिमा बढ़ाना।

२. पाँच प्रकार के चारित्र के विवरण के लिए देखें (उत्तराध्ययन—सटिप्पण-संस्करण)।

उनतीसवाँ अध्ययन

सम्यक्त्व-पराक्रम

सू०१. आयुष्मन्! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा है—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में कश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने सम्यक्त्व-पराक्रम नाम का अध्ययन कहा है, जिस पर भलीभाँति श्रद्धा कर, प्रतीति कर, रुचि रख कर, स्मृति में रख कर, समग्र रूप से हृदयंगत कर, गुरु को पठित पाठ का निवेदन कर, गुरु के समीप उच्चारण की शुद्धि कर, सही अर्थ का बोध प्राप्त कर और अर्हत् की आज्ञा के अनुसार अनुपालन कर बहुत जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण होते हैं और सब दुःखों का अन्त करते हैं। सम्यक्त्व-पराक्रम का अर्थ इस प्रकार कहा गया है, जैसे—

१. सवेग
२. निर्वेद
३. धर्म-श्रद्धा
४. गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा
५. आलोचना
६. निन्दा
७. गर्हा
८. सामायिक
९. चतुर्विंशति-स्तव
१०. वदन
११. प्रतिक्रमण
१२. कायोत्सर्ग
१३. प्रत्याख्यान
१४. स्तव-स्तुति-मंगल
१५. काल-प्रतिलेखन
१६. प्रायश्चित्तकरण

१७ क्षामणा
१८ स्वाध्याय
१९ वाचना
२० प्रतिप्रच्छना
२१ परावर्तना
२२ अनुप्रेक्षा
२३ धर्म-कथा
२४ श्रुत-आराधना
२५ एकाग्र-मन की स्थापना
२६ संयम
२७ तप
२८ व्यवदान
२९ सुख की स्पृहा का त्याग
३० अप्रतिबद्धता
३१ विविक्त-शयनासन-सेवन
३२ विनिवर्तना
३३ संभोग प्रत्याख्यान
३४ उपधि-प्रत्याख्यान
३५ आहार-प्रत्याख्यान
३६ कषाय-प्रत्याख्यान
३७ योग-प्रत्याख्यान
३८ शरीर-प्रत्याख्यान
३९ सहाय प्रत्याख्यान
४० भक्त-प्रत्याख्यान
४१ सद्भाव प्रत्याख्यान
४२ प्रतिरूपता
४३ वैयावृत्य
४४ सर्वगुण-सम्पन्नता
४५ वीतरागता
४६ क्षान्ति
४७ मुक्ति

मान, माया और लोभ का क्षय करता है। नये कर्मों का संग्रह नहीं करता। कषाय के क्षीण होने से प्रकट होने वाली मिथ्यात्व-विशुद्धि कर दर्शन (सम्यक्-श्रद्धान) की आराधना करता है। दर्शन-विशोधि के विशुद्ध होने पर कई एक जीव उसी जन्म से सिद्ध हो जाते हैं और कई उसके विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते—उसमें अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं।

सू०२ भन्ते! निर्वेद[1] से जीव क्या प्राप्त करता है?

निर्वेद से वह देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी काम-भोगों में ग्लानि को प्राप्त होता है। सब विषयों से विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता है। आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता हुआ संसार-मार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धि-मार्ग को प्राप्त होता है।

सू०३ भन्ते! धर्म-श्रद्धा से जीव क्या प्राप्त करता है?

धर्म-श्रद्धा से वह वैषयिक सुखों की आसक्ति छोड़ विरक्त हो जाता है, अगार-धर्म—गृहस्थी को त्याग देता है। वह अनगार होकर छेदन-भेदन, संयोग वियोग आदि शारीरिक और मानसिक दुःखों का विच्छेद करता है और निर्बाध (बाधा रहित) सुख को प्राप्त करता है।

सू०४ भन्ते! गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से जीव क्या प्राप्त करता है?

गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से वह विनय को प्राप्त करता है। विनय को प्राप्त करने वाला व्यक्ति गुरु का अविनय या परिवाद करने वाला नहीं होता, इसलिए वह नैरयिक, तिर्यग्-योनिक, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है। श्लाघा, गुण प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा मनुष्य और देव सम्बन्धी सुगति से सम्बन्ध जोड़ता है। सिद्धि और सुगति का मार्ग प्रशस्त करता है। विनय-मूलक सब प्रशस्त कार्यों को सिद्ध करता है और दूसरे बहुत व्यक्तियों को विनय के पथ पर ले आता है।

सू०५ भन्ते! आलोचना[2] से जीव क्या प्राप्त करता है?

आलोचना से वह अनन्त संसार को बढ़ाने वाले, मोक्ष-मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले, माया, निदान तथा मिथ्या-दर्शन—इन तीनों शल्यों को निकाल फेंकता है और ऋजु भाव को प्राप्त होता है। ऋजु भाव को प्राप्त

---

१ निर्वेद—भव-वैराग्य।

२ आलोचना—गुरु के सम्मुख अपनी भूलों का निवेदन करना।

हुआ व्यक्ति अमायी होता है, इसलिए वह स्त्री-वेद और नपुंसक-वेद कर्म का बन्ध नहीं करता और यदि वे पहले बन्धे हुए हों तो उनका क्षय कर देता है।

सू०६. भन्ते ! निंदा[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

निंदा से वह पश्चात्ताप को प्राप्त होता है। उसके द्वारा विरक्त होता हुआ मोह को क्षीण करने में समर्थ परिणाम-धारा को प्राप्त करता है। वैसी परिणाम-धारा को प्राप्त हुआ अनगार मोहनीय-कर्म को क्षीण कर देता है।

सू०७. भन्ते ! गर्हा[2] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

गर्हा से वह अनादर को प्राप्त होता है। अनादर को प्राप्त हुआ वह अप्रशस्त प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियों को अंगीकार करता है। वैसा अनगार आत्मा के अनन्त-विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियों को क्षीण करता है।

सू०८. भन्ते ! सामायिक[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सामायिक से वह असत् प्रवृत्ति की विरति को प्राप्त होता है।

सू०६. भन्ते ! चतुर्विंशति-स्तव[4] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चतुर्विंशति-स्तव से वह सम्यक्त्व की विशुद्धि को प्राप्त करता है।

सू०१०. भन्ते ! वन्दना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वन्दना से वह नीचे-कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करता है; ऊँचे-कुल में उत्पन्न करने वाले कर्म का अर्जन करता है और जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त होता है।

सू०११. भन्ते ! प्रतिक्रमण से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिक्रमण से वह व्रत के छेदों को ढंक देता है। जिसने व्रत के छेदों को ढंक दिया वैसा जीव आश्रवों को रोक देता है, चारित्र के धब्बों को मिटा देता है, आठ प्रवचन-माताओं में सावधान हो जाता है, संयम में एक-रस हो जाता है और भली-भांति समाधिस्थ होकर विहार करता है।

सू०१२. भन्ते ! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

---

१. निन्दा—अपनी भूलों के प्रति अनादर का भाव प्रकट करना।
२. गर्हा—दूसरों के समक्ष अपनी भूलों को प्रकट करना।
३. सामायिक—समभाव की साधना।
४. चतुर्विंशति-स्तव—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति।

कायोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तोचित कार्यों का विशोधन करता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भाँति स्वस्थ हृदय वाला —हल्का हो जाता है और प्रशस्त-ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है।

सू०१३ भन्ते! प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है?

प्रत्याख्यान से वह आस्रव-द्वारों (कर्म बन्धन के हेतुओं) का निरोध करता है।

सू०१४ भन्ते! स्तव और स्तुति रूप मंगल से जीव क्या प्राप्त करता है?

स्तव और स्तुति रूप मंगल से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की बोधि का लाभ करता है। ज्ञान, बोधि और चारित्र के बोधि-लाभ से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति या वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

सू०१५. भन्ते! काल-प्रतिलेखना[1] से जीव क्या प्राप्त करता है?

काल प्रतिलेखना से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

सू०१६ भन्ते! प्रायश्चित्त करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

प्रायश्चित्त करने से वह पाप-कर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार हो जाता है। सम्यक्-प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्ग-फल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचार-फल (मुक्ति) की आराधना करता है।

सू०१७ भन्ते! क्षमा करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

क्षमा करने से वह मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति सब प्राण, भूत जीव और सत्त्वों के साथ मैत्री भाव उत्पन्न करता है। मैत्री भाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

सू०१८ भन्ते! स्वाध्याय से जीव क्या प्राप्त करता है?

स्वाध्याय से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

---

१ काल-प्रतिलेखना—स्वाध्याय आदि के उपयुक्त समय का ज्ञान करना।

सू०१९. भन्ते ! वाचना (अध्यापन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाचना से वह कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत की उपेक्षा के दोष से बच जाता है। इस उपेक्षा के दोष से बचने वाला तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है—वह गणधर की भाँति शिष्यों को श्रुत देने में प्रवृत्त होता है। तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करने वाला कर्मों और संसार का अन्त करने वाला होता है।

सू०२०. भन्ते ! प्रतिप्रश्न करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिप्रश्न करने से वह सूत्र, अर्थ और उन दोनों से सम्बन्धित सन्देहों का निवर्त्तन करता है और कांक्षा-मोहनीय कर्म का विनाश करता है।

सू०२१. भन्ते ! परावर्त्तना[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

परावर्त्तना से वह अक्षरों को उत्पन्न करता है—स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-लब्धि[2] को प्राप्त होता है।

सू०२२. भन्ते ! अनुप्रेक्षा[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अनुप्रेक्षा से वह आयुष्-कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की गाढ़-बन्धन से बँधी हुई प्रकृतियों को शिथिल-बंधन वाली कर देता है; उनकी दीर्घ-कालीन स्थिति को अल्प-कालीन कर देता है; उनके तीव्र अनुभाव को मंद कर देता है; उनके बहु-प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में बदल देता है। आयुष्-कर्म का बन्धन कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता। असात-वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता और अनादि-अनंत लम्बे-मार्ग वाली तथा चतुर्गति-रूप चार अन्तों वाली संसार-अटवी को तुरंत ही पार कर जाता है।

सू०२३. भन्ते ! धर्म-कथा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

धर्म-कथा से वह प्रवचन की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है।

सू०२४. भन्ते ! श्रुत की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

श्रुत की आराधना से वह अज्ञान का क्षय करता है और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक संक्लेशों से बच जाता है।

---

१. परावर्त्तना—पठित-पाठ का पुनरावर्तन।
२. व्यंजन-लब्धि—वर्ण-विद्या। एक व्यञ्जन के आधार पर शेष व्यञ्जनों को प्राप्त करने वाली क्षमता।
३. अनुप्रेक्षा—अर्थ-चिन्तन।

सू०२५ भन्ते ! एक अग्र (आलम्बन) पर मन को स्थापित करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

एकाग्र मन की स्थापना से वह चित्त का निरोध करता है।

सू०२६ भन्ते ! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?

संयम से वह आस्रव का निरोध करता है।

सू०२७ भन्ते ! तप से जीव क्या प्राप्त करता है ?

तप से वह व्यवदान[1] को प्राप्त होता है।

सू०२८ भन्ते ! व्यवदान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

व्यवदान से वह अक्रिया[2] को प्राप्त होता है। वह अक्रियावान् होकर सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और दुःखों का अन्त करता है।

सू०२९ भन्ते ! सुख की स्पृहा का निवारण करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सुख की स्पृहा का निवारण करने से वह विषयों के प्रति अनुत्सुक-भाव को प्राप्त करता है। विषयों के प्रति अनुत्सुक जीव अनुकम्पा करने वाला, प्रशान्त और शोक-मुक्त होकर चारित्र को विकृत करने वाले मोह-कर्म का क्षय करता है।

सू०३० भन्ते ! अप्रतिबद्धता[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अप्रतिबद्धता से वह असंग हो जाता है—बाह्य संसर्गों से मुक्त हो जाता है। असंगता से जीव अकेला (राग-द्वेष रहित), एकाग्र चित्त वाला, दिन और रात बाह्य-संसर्गों को छोड़ता हुआ प्रतिबन्ध रहित होकर विहरण करता है।

सू०३१ भन्ते ! विविक्त[4] शयनासन के सेवन से जीव क्या प्राप्त करता है ?

---

१ व्यवदान—पूर्व-संचित कर्मों के क्षय से होने वाली विशुद्धि।
२ अक्रिया—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध।
३ अप्रतिबद्धता—मन की अनासक्ति।
४ विविक्त—एकान्त, आवागमन रहित और स्त्री-पशु-वर्जित स्थान।

विविक्त-शयनासन के सेवन से वह चारित्र की रक्षा को प्राप्त होता है। चारित्र की सुरक्षा करने वाला जीव पौष्टिक आहार का वर्जन करने वाला, दृढ़ चरित्र वाला, एकांत में रत, अन्तःकरण से मोक्ष की साधना में लगा हुआ होता है। वह आठ प्रकार के कर्मों की गाँठ तोड़ देता है।

सू०३२. भन्ते ! विनिवर्तना[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

विनिवर्तना से वह नए सिरे से पाप-कर्मों को नहीं करने के लिए तत्पर रहता है और पूर्व-अर्जित पाप-कर्मों का क्षय कर देता है। इस प्रकार वह पाप-कर्म का विनाश कर देता है। उसके पश्चात् चार-गति रूप चार अन्तों वाली संसार-अटवी को पार कर जाता है।

सू०३३. भन्ते ! सम्भोग-प्रत्याख्यान[2] करने वाला जीव क्या प्राप्त करता है ?

सम्भोग-प्रत्याख्यान से वह परावलंबन को छोड़ता है। उस परावलम्बन को छोड़ने वाले मुनि के सारे प्रयत्न मोक्ष की सिद्धि के लिए होते हैं। वह भिक्षा में स्वयं को जो कुछ मिलता है उसी में सन्तुष्ट हो जाता है। दूसरे मुनियों को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद नहीं लेता, उसकी ताक नहीं रखता, उसकी स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता। दूसरे को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद न लेता हुआ, उसकी ताक न रखता हुआ, स्पृहा न करता हुआ, प्रार्थना न करता हुआ और अभिलाषा न करता हुआ दूसरी सुख-शय्या को प्राप्त कर विहरण करता है।

सू०३४. भन्ते ! उपधि[3] के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उपधि के प्रत्याख्यान से वह स्वाध्याय-ध्यान में होने वाली क्षति से बच जाता है। उपधि रहित मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में मानसिक संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

सू०३५. भन्ते ! आहार-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

आहार-प्रत्याख्यान से वह जीवित रहने की अभिलाषा के प्रयोग का विच्छेद कर देता है। जीवित रहने की अभिलाषा का विच्छेद कर देने वाला व्यक्ति आहार के बिना (तपस्या आदि में) संक्लेश को प्राप्त नहीं होता है।

---

१. विनिवर्तना—इन्द्रिय और मन को विषयों से दूर रखना।

२. सम्भोग-प्रत्याख्यान—मण्डली-भोजन का त्याग।

३. उपधि—वस्त्र आदि उपकरण।

सू०३६ भन्ते ! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

कषाय प्रत्याख्यान से वह वीतराग भाव को प्राप्त होता है। वीतराग भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में सम हो जाता है।

सू०३७ भंते ! योग[1] के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग प्रत्याख्यान से वह अयोगत्व (सर्वथा अप्रकम्प भाव) को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नए कर्मों का अर्जन नहीं करता और पूर्वार्जित कर्मों को क्षीण कर देता है।

सू०३८ भंते ! शरीर के प्रत्याख्यान (देह-मुक्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

शरीर के प्रत्याख्यान से वह मुक्त-आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करता है। मुक्त-आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करने वाला जीव लोक के शिखर में पहुँचकर परम सुखी हो जाता है।

सू०३९. भंते ! सहाय-प्रत्याख्यान[2] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सहाय प्रत्याख्यान से वह अकेलेपन को प्राप्त होता है। अकेलेपन को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलम्बन का अभ्यास करता हुआ कोलाहलपूर्ण शब्दों से मुक्त, वाचिक-कलह से मुक्त, झगड़े से मुक्त, कषाय से मुक्त, तू-तू से मुक्त, संयम-बहुल, संवर-बहुल और समाधिस्थ हो जाता है।

सू०४० भंते ! भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भक्त प्रत्याख्यान से वह अनेक सैकड़ों जन्म-मरणों का निरोध करता है।

सू०४१ भन्ते ! सद्भाव प्रत्याख्यान[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सद्भाव-प्रत्याख्यान से वह अनिवृत्ति को प्राप्त होता है—मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति नहीं करता। अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगार केवली के विद्यमान चार कर्मों—वेदनीय, आयुष, नाम और गोत्र को क्षीण कर देता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अंत करता है।

---

१ योग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति।

२ सहाय प्रत्याख्यान—दूसरों के सहयोग का त्याग।

३ सद्भाव प्रत्याख्यान—परमार्थरूप से होने वाला प्रत्याख्यान। पूर्ण संवर या शैलेशी अवस्था।

सू०४२. भंते ! प्रतिरूपता[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिरूपता से वह हल्केपन को प्राप्त होता है। उपकरणों के अल्पीकरण से हल्का बना हुआ जीव अप्रमत्त, प्रकटलिंग वाला, प्रशस्तलिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, पराक्रम और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्वों के लिए विश्वसनीय रूप वाला, अल्प-प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है।

सू०४३. भंते ! वैयावृत्त्य से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वैयावृत्त्य से वह तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का अर्जन करता है।

सू०४४. भंते ! सर्व-गुण-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सर्व-गुण-सम्पन्नता से वह अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता।

सू०४५. भंते ! वीतरागता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वीतरागता से वह स्नेह के अनुबन्धनों और तृष्णा के अनुबन्धनों का विच्छेद करता है तथा मनोज्ञ (और अमनोज्ञ) शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से विरक्त हो जाता है।

सू०४६. भंते ! क्षमा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्षमा से वह परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

सू०४७. भंते ! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मुक्ति से वह अकिंचनता को प्राप्त होता है। अकिंचन जीव अर्थ-लोलुप पुरुषों के द्वारा अप्रार्थनीय होता है—उसके पास कोई याचना नहीं करता।

सू०४८. भंते ! ऋजुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ऋजुता से वह काया की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता और अविसंवाद को प्राप्त होता है। अविसंवाद की वृत्ति से सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है।

सू०४९. भंते ! मृदुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मृदुता से वह अनुद्धत मनोभाव को प्राप्त करता है। अनुद्धत मनोभाव वाला जीव मृदु-मार्दव से सम्पन्न होकर मद के आठ स्थानों का विनाश कर देता है।

---

१. प्रतिरूपता—अचेलकता।

सू०२० भंते ! भाव-सत्य[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भाव-सत्य से वह भाव की विशुद्धि को प्राप्त होता है। भाव विशुद्धि में वर्तमान जीव अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए तैयार होता है। अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना में तत्पर होकर वह परलोक-धर्म का आराधक होता है।

सू०२१ भंते ! करण-सत्य[2] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

करण-सत्य से वह अपूर्व कार्य करने के सामर्थ्य को प्राप्त होता है। करण-सत्य में वर्तमान जीव जैसा कहता है वैसा करता है।

सू०२२ भंते ! योग-सत्य[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग-सत्य से वह मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध करता है।

सू०२३ भंते ! मनोगुप्तता[4] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मनो-गुप्तता से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्र चित्त वाला जीव अशुभ संकल्पों से मन की रक्षा करने वाला और संयम की आराधना करने वाला होता है।

सू०२४ भंते ! वाग्-गुप्तता[5] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाग्-गुप्तता से वह निर्विकार भाव को प्राप्त होता है। निर्विकार जीव वाग्-गुप्त, अध्यात्मयोग और ध्यान से गुप्त हो जाता है।

सू०२५ भंते ! काय-गुप्तता[6] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काय-गुप्तता से वह संवर[7] को प्राप्त होता है। संवर के द्वारा कायिक स्थिरता को प्राप्त करने वाला जीव फिर पाप कर्म के उपादान-हेतुओं (आश्रवों) का निरोध कर देता है।

---

१ भाव-सत्य—अन्तरात्मा की सचाई।
२ करण-सत्य—विहित-कार्य को सम्यक् प्रकार से और तन्मय होकर करना।
३ योग-सत्य—मन, वाणी और काया की सचाई।
४ मनोगुप्तता—कुशल मन की प्रवृत्ति।
५ वाग्-गुप्तता—कुशल वचन की प्रवृत्ति।
६ काय-गुप्तता—कुशल काया की प्रवृत्ति।
७ संवर—अशुभ प्रवृत्ति का निरोध।

सू०५६. भंते ! मन-समाधारणा[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मन-समाधारणा से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रता को प्राप्त होकर ज्ञान-पर्यवों (ज्ञान के प्रकारों) को प्राप्त होता है। ज्ञान-पर्यवों को प्राप्त कर सम्यक्-दर्शन को विशुद्ध और मिथ्या-दर्शन को क्षीण करता है।

सू०५७. भंते ! वाक्-समाधारणा[2] से जीव क्या प्राप्त करता है।

वाक्-समाधारणा से वह वाणी के विषय-भूत दर्शन-पर्यवों को (सम्यक्-दर्शन के प्रकारों) को विशुद्ध करता है। वाणी के विषयभूत दर्शन-पर्यवों को विशुद्ध कर बोधि की सुलभता को प्राप्त करता है और बोधि की दुर्लभता को क्षीण करता है।

सूत्र०५८. भंते ! काय-समाधारणा[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काय-समाधारणा से वह चारित्र-पर्यवों (चरित्र के प्रकारों) को विशुद्ध करता है। चरित्र-पर्यवों को विशुद्ध कर यथाख्यात चरित्र (वीतरागभाव) को प्राप्त करने योग्य विशुद्धि करता है। यथाख्यात चरित्र को विशुद्ध कर केवली के विद्यमान चार कर्मों—आयुष्, वेदनीय, नाम और गोत्र को क्षीण करता है। उसके पश्चात् सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

सू०५९. भंते ! ज्ञान-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ज्ञान-सम्पन्नता से वह सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान-सपन्न जीव चार गति-रूप चार अन्तों वाली संसार-अटवी में विनष्ट नहीं होता।

जिस प्रकार ससूत्र (धागे में पिरोई हुई) सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत सहित) जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता।

---

1. मन-समाधारणा—समाधारणा का अर्थ है—सम्यग्-व्यवस्थापन या नियोजन। मन का श्रुत में व्यवस्थापन या नियोजन करना मन-समाधारणा है।
2. वाक्-समाधारणा—वचन का स्वाध्याय में व्यवस्थापन या नियोजन।
3. काय-समाधारणा—काया का चारित्र की आराधना में व्यवस्थापन या नियोजन।

ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त करता है तथा स्वसमय[1] और परसमय[2] की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक पुरुष माना जाता है।

सू०६० भंते ! दर्शन सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

दर्शन-संपन्नता से वह संसार-पर्यटन के हेतु भूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है—क्षायिक सम्यक्-दर्शन को प्राप्त होता है। उससे आगे उसकी प्रकाश-शिखा बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञान और दर्शन को आत्मा से संयोजित करता हुआ, उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।

सू०६१ भंते ! चारित्र-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चारित्र संपन्नता से वह शैलेशी भाव को प्राप्त होता है। शैलेशी-दशा को प्राप्त करने वाला अनगार केवली के विद्यमान चार कर्मों को क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अंत करता है।

सू०६२ भन्ते ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह शब्द-सम्बन्धी राग द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६३ भन्ते! चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रूप-सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६४ भन्ते ! घ्राण इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ गंधों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह गंध-सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६५. भन्ते ! जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

---

१ स्वसमय—जैन सिद्धान्त।

२ परसमय—अन्यतीर्थिकों के सिद्धान्त।

जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रस-सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०६६. भन्ते! स्पर्श-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होनेवाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह स्पर्श-सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०६७. भन्ते! क्रोध-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

क्रोध-विजय से वह क्षमा को उत्पन्न करता है। वह क्रोध-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०६८. भन्ते! मान-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

मान-विजय से वह मृदुता को उत्पन्न करता है। वह मान-वेदनीय कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६९. भन्ते! माया-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

माया-विजय से वह ऋजुता को उत्पन्न करता है। वह माया-वेदनीय कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०७०. भन्ते! लोभ-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

लोभ-विजय से वह संतोष को उत्पन्न करता है। वह लोभ-वेदनीय कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०७१. भन्ते! प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

प्रेम, द्वेष, और मिथ्या-दर्शन के विजय से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ कर्मों में जो कर्म-ग्रंथि[1] (घात्य-कर्म) हैं, उसे खोलने के लिए वह उद्यत होता है। वह जिसे पहले कभी भी पूर्णतः क्षीण नहीं कर पाया उस अठाईस प्रकार वाले मोहनीय कर्म को क्रमशः सर्वथा क्षीण करता है, फिर वह पाँच प्रकार वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार वाले दर्शनावरणीय और पांच प्रकार वाले अंतराय—इन तीनों विद्यमान कर्मों को एक

---

१. कर्म-ग्रन्थि—घात्य-कर्म को ग्रन्थि कहा जाता है। घात्य-कर्म चार हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय।

साथ क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह अनुत्तर, अनंत, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को उत्पन्न करता है। जब तक वह सयोगी होता है तब तक उसके ईर्यापथिक-कर्म का बंध होता है। वह बंध पुण्य-मय होता है। उसकी स्थिति दो समय की होती है और तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाता है। वह कर्म बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय में आता है, भोगा जाता है, नष्ट हो जाता है और अंत में अकर्म भी हो जाता है।[1]

सू०७२ केवली होने के पश्चात् वह शेष आयुष्य का निर्वाह करता है। जब अन्तर-मुहूर्त परिमाण आयु शेष रहती है तब वह योग निरोध करने में प्रवृत्त होता है। उस समय 'सूक्ष्म क्रिय अप्रतिपाति' नामक शुक्ल ध्यान में लीन बना हुआ वह सबसे पहले मनोयोग का निरोध करता है फिर वचन-योग का निरोध करता है, उसके पश्चात् आनापान का निरोध करता है। उसके पश्चात् स्वल्पकाल तक पाँच ह्रस्वाक्षरों (अ इ उ ऋ लृ) का उच्चारण किया जाए उतने काल तक 'समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति' नामक शुक्ल ध्यान में लीन बना हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य नाम और गोत्र—इन चारों कर्मों को एक साथ क्षीण करता है।

सू०७३ उसके अनन्तर ही औदारिक और कार्मण शरीर को पूर्ण अस्तित्व के रूप में छोड़ कर वह ऊर्ध्व स्थान में पहुँच साकारोपयुक्त (ज्ञान प्रवृत्ति वाला) में सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अंत करता है। सिद्ध होने से पूर्व वह ऋजुश्रेणी से गति करता है। उसकी गति ऊपर को होती है, आत्म प्रदेश जितने ही आकाश-प्रदेशों का स्पर्श करने वाली होती है और एक समय की होती है—ऋजु होती है।

सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा आख्यात, प्रज्ञापित, प्ररूपित, दर्शित और उपदर्शित है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ कर्म-ग्रन्थि भेदन की प्रक्रिया के विशेष विवरण के लिए देखें—(उत्तराध्ययन—सटिप्पण-संस्करण)

तीसवाँ अध्ययन

तपो-मार्ग-गति

१. राग-द्वेष से अर्जित पाप-कर्म को भिक्षु तपस्या से जिस प्रकार क्षीण करता है, उसे एकाग्र-मन होकर सुन ।

२. प्राण-वध, मृषावाद, अदत्त-ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से विरत जीव अनाश्रव होता है ।

३. पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, अकषाय, जितेन्द्रिय, गर्व रहित और निःशल्य जीव अनाश्रव होता है ।

४. इनसे विपरीत आचरण से राग-द्वेष से जो कर्म उपार्जित होता है, उसे भिक्षु जिस प्रकार क्षीण करता है, एकाग्र-मन होकर सुन ।

५. जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है—

६. उसी प्रकार संयमी पुरुष के पाप-कर्म आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ों भवों के सचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं ।

७. वह तप दो प्रकार का कहा है—बाह्य और आभ्यन्तर ।

बाह्य तप छह प्रकार का है । उसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है ।

८. (१) अनशन (२) ऊनोदरिका (३) भिक्षा-चर्या (४) रस-परित्याग (५) काय-क्लेश और (६) संलीनता—यह बाह्य तप है ।

९. अनशन दो प्रकार होता है—इत्वरिक और मरण-काल । इत्वरिक सावकांक्ष[1] और दूसरा निरवकांक्ष होता है ।

१०. जो इत्वरिक तप है, वह संक्षेप में छह प्रकार का है—(१) श्रेणि-तप (२) प्रतर-तप (३) घन-तप (४) वर्ग तप—

११. (५) वर्ग-वर्ग-तप (६) प्रकीर्ण-तप ।

इत्वरिक तप नाना प्रकार के मनोवांछित फल देने वाला होता है ।

---

१. सावकांक्ष—भोजन की इच्छा से युक्त ।

१२ 'मरण-काल' अनशन के काय-चेष्टा के आधार पर सविचार[1] और अविचार[2]—ये दो भेद होते हैं।

१३ अथवा इसके दो-दो भेद ये होते हैं—सपरिकर्म[3] और अपरिकर्म[4]। अविचार अनशन के निर्हारी[5] और अनिर्हारी[6]—ये दो भेद होते हैं। आहार का त्याग दोनों (सविचार और अविचार तथा सपरिकर्म और अपरिकर्म) में होता है।

१४ द्रव्य, क्षेत्र काल भाव और पर्यायों की दृष्टि से अवमौदर्य (ऊनोदरिका) संक्षेप में पाँच प्रकार का है।

१५. जिसका जितना आहार है उससे कम खाता है, कम से कम एक धान्य-कण खाता है और अधिक में अधिक एक कवल कम खाता है, उसके द्रव्य से अवमौदर्य तप होता है।

१६ ग्राम नगर राजधानी निगम, आकर, पल्ली, खेड़ा, कर्बट, द्रोणमुख पत्तन, मण्डप, संबाध—

१७ आश्रम-पद, विहार, सन्निवेश, समाज घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, संवर्त, कोट—

१८ पाड़ा, गलियाँ घर—इनमें अथवा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रों में से पूर्व निश्चय के अनुसार निर्धारित क्षेत्र में भिक्षा के लिए जा सकता है। इस प्रकार यह क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

१९ (प्रकारान्तर से) पेटा अर्द्ध-पेटा, गोमूत्रिका, पतङ्ग-वीथिका शम्बूकावर्ता और आयत-गत्वा-प्रत्यागता—यह छह प्रकार का क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

२० दिवस के चार प्रहरों में जितना अभिग्रह-काल हो उसमें भिक्षा के लिए जाऊँगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के काल से अवमौदर्य तप होता है।

---

१ सविचार—गमनागमन सहित।
२ अविचार—गमनागमन रहित।
३ सपरिकर्म—शुश्रूषा या संलेखना सहित।
४ अपरिकर्म—शुश्रूषा या संलेखना रहित।
५ निर्हारी—उपाश्रय से बाहर किया जानेवाला अनशन।
६ अनिर्हारी—उपाश्रय में किया जाने वाला अनशन।

२१. अथवा कुछ न्यून तीसरे प्रहर (चतुर्थ भाग आदि न्यून प्रहर) में जो भिक्षा की एषणा करता है, उसे (इस प्रकार) काल से अवमौदर्य तप होता है।

२२. स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलंकृत, अमुक वय वाले, अमुक वस्त्र वाले—

२३. अमुक विशेष प्रकार की दशा, वर्ण या भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के भाव से अवमौदर्य तप होता है।

२४. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो पर्याय (भाव) कहे गए हैं, उन सबके द्वारा अवमौदर्य करने वाला भिक्षु पर्यवचरक होता है।

२५. आठ प्रकार के गोचराग्र तथा सात प्रकार की एषणाएँ और जो अन्य अभिग्रह हैं, उन्हें भिक्षा-चर्या कहा जाता है।

२६. दूध, दही, घृत आदि प्रणीत पान-भोजन और रसों के वर्जन को रस-विवर्जन तप कहा जाता है।

२७. आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि उत्कट आसनों का जो अभ्यास किया जाता है उसे कायक्लेश तप कहा जाता है।

२८. एकांत, जहाँ कोई आना-जाना न हो और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करना विविक्त-शयनासन (संलीनता) तप है।

२९. यह बाह्य तप संक्षेप में कहा गया है। अब मैं अनुक्रम से आभ्यन्तर तप को कहूंगा।

३०. प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—यह (छह प्रकार का) आभ्यन्तर तप है।

३१. आलोचनार्ह आदि जो दस प्रकार का प्रायश्चित्त है, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से पालन करता है, उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है।

३२. अभ्युत्थान (खड़े होना), हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय कहलाता है।

३३. आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार के वैयावृत्त्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्त्य कहा जाता है।

३४. स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है—

(१) वाचना (अध्यापन)

(२) पृच्छना

(३) परिवर्तना (पुनरावृत्ति)

(४) अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिन्तन)

(५) धर्म-कथा।

३५. सुसमाहित मुनि आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़ कर धर्म्य और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे। बुध-जन उसे ध्यान कहते हैं।

३६ सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु काया को नहीं हिलाता-डुलाता उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है। वह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है।

३७ इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनों प्रकार के तपों का सम्यक् रूप से आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

इकतीसवाँ अध्ययन

चरण-विधि

१. अब मैं जीव को सुख देने वाली उस चरण-विधि का कथन करूँगा जिसका आचरण कर बहुत से जीव संसार-सागर को तर गए।

२. भिक्षु एक स्थान से निवृत्ति करे और एक स्थान में प्रवृत्ति करे। असंयम से निवृत्ति करे और संयम में प्रवृत्ति करे।

३. राग और द्वेष—ये दो पाप, पाप-कर्म के प्रवर्तक हैं। जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है, वह संसार में नहीं रहता।

४. जो भिक्षु तीन-तीन दण्डों[1], गौरवों[2] और शल्यों[3] का सदा त्याग करता है, वह संसार में नहीं रहता।

५. जो भिक्षु देव, तिर्यञ्च और मनुष्य-सम्बन्धी उपसर्गों को सदा सहता है, वह संसार में नहीं रहता।

---

१. दंड का अर्थ है—आत्मा को दंडित करने वाली प्रवृत्ति। वे तीन हैं—
   १. मनोदंड—मन का दुष्प्रणिधान।
   २. वचोदंड—वचन की दुष्प्रयुक्तता।
   ३. कायदंड—काया की दुष्प्रवृत्ति।

२. गौरव का अर्थ है—अभिमान से उत्तप्त चित्त की अवस्था। उसके तीन प्रकार हैं—
   १. ऋद्धि गौरव—ऐश्वर्य का अभिमान।
   २. रस गौरव—रसों का अभिमान।
   ३. सात गौरव—सुखों का अभिमान।

३. शल्य का अर्थ है—अंतर में घुसा हुआ दोष। शल्य तीन हैं—
   १. मायाशल्य—मायापूर्ण आचरण।
   २. निदानशल्य—भौतिक उपलब्धि के लिए धर्म का विनिमय।
   ३. मिथ्यादर्शनशल्य—आत्मा का विपरीत दृष्टिकोण।

६ जो भिक्षु विकथाओं, कषायों, संज्ञाओं[1] तथा आर्त और रौद्र—इन दो ध्यानों का सदा वर्जन करता है वह संसार में नहीं रहता।

७ जो भिक्षु व्रतों और समितियों के पालन में, इन्द्रिय विषयों और क्रियाओं के परिहार में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

८ जो भिक्षु छह लेश्याओं, छह जीवनिकायों और आहार के (विधि-निषेध के) छह कारणों[2] में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

९. जो[3] भिक्षु आहार-ग्रहण और स्थान-सम्बन्धी सात प्रतिमाओं में तथा सात भय-स्थानों में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

१० जो भिक्षु आठ मद-स्थानों में, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में और दस प्रकार के भिक्षु-धर्म में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

११ जो भिक्षु उपासकों की ग्यारह प्रतिमाओं तथा भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

१२ जो भिक्षु तेरह क्रियाओं, चौदह जीव-समुदायों और पन्द्रह परमाधार्मिक देवों में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

१३ जो भिक्षु गाथा-षोडशक[4] और सत्रह प्रकार के असंयम में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

१४ जो अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य उन्नीस ज्ञात-अध्ययनों और बीस असमाधि-स्थानों में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

१५. जो भिक्षु इक्कीस प्रकार के शबल-दोषों[5] और बाईस परीषहों में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

१६ जो भिक्षु सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों और चौबीस प्रकार के देवों में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

---

१ संज्ञा—आसक्ति। वह चार प्रकार की है—आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा।

२ आहार के विधि निषेध के लिए देखें—२६।३२,३४।

३ प्रस्तुत अध्ययन के नौवें श्लोक से बीसवें श्लोक के अन्तर्गत आए हुए संख्यावाचक विषयों के विवरण के लिए देखें - परिशिष्ट।

४ गाथा-षोडशक—सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन।

५ शबल-दोष—चारित्र को धब्बों से युक्त करने वाले दोष।

१७. जो भिक्षु पचीस भावनाओं और दशाश्रुतस्कंध, व्यवहार और बृहत्कल्प के छब्बीस उद्देशों में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

१८. जो भिक्षु साधु के सत्ताईस गुणों और अठाईस आचार-प्रकल्पों में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

१९. जो भिक्षु उनतीस पाप-श्रुत-प्रसंगों और तीस मोह के स्थानों में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

२०. जो भिक्षु सिद्धों के इकतीस आदि-गुणों,[1] बत्तीस योग-संग्रहों[2] तथा तेतीस आशातनाओं[3] में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता।

२१. जो पण्डित भिक्षु इस प्रकार इन स्थानों में सदा यत्न करता है वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

---

१. देखें—उत्तराध्ययन—सटिप्पण-संस्करण।

२. मन वचन और काया के व्यापार को 'योग' कहते हैं। यहां प्रशस्त योगों का ही ग्रहण किया गया है। योग संग्रह का अर्थ है 'प्रशस्त योगों का एकत्रीकरण'। विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तराध्ययन—सटिप्पण-संस्करण।

३. आशातना का अर्थ है—अविनय, अशिष्टता या अभद्र व्यवहार। दैनिक व्यवहारों के आधार पर उसके तेतीस विभाग किए गए हैं। विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तराध्ययन—सटिप्पण-संस्करण।

बत्तीसवाँ अध्ययन

प्रमाद-स्थान

१ अनादि-कालीन सब दुःखों और उनके कारणों (कषाय-आदि) के मोक्ष का जो उपाय है वह मैं कह रहा हूँ। वह ध्यान के लिए हितकर है, अत: तुम प्रतिपूर्ण चित्त होकर मोक्ष के लिए सुनो।

२ सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का नाश तथा राग और द्वेष का क्षय होने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है।

३ वृद्ध और स्थविर मुनियों की सेवा करना, अज्ञानी-जनों का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना तथा धैर्य रखना, यह मोक्ष का मार्ग है।

४ समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे। जीव आदि पदार्थ के प्रति निपुण बुद्धि वाले गीतार्थ को सहायक बनाए और स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित घर में रहे।

५. यदि अपने से अधिक गुणवान् या अपने समान निपुण सहायक न मिले तो वह पापों का वर्जन करता हुआ, विषयों में अनासक्त रह कर अकेला ही विहार करे।

६ जैसे बलाका अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से उत्पन्न होता है उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है।

७ राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म मरण को दुःख का मूल कहा गया है।

८ जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नहीं उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया। जिसके पास कुछ नहीं है उसने लोभ का नाश कर दिया।

९ राग, द्वेष और मोह का समूल उन्मूलन चाहने वाले मुनि को जिन जिन उपायों का आलम्बन लेना चाहिए उन्हें मैं क्रमश: कहूँगा।

१०. रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। वे प्रायः मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएँ उद्दीप्त होती हैं उसे काम-भोग सताते हैं, जैसे फल वाले वृक्ष को पक्षी।

११. जैसे पवन के झोकों के साथ प्रचुर ईंधन वाले वन में लगा हुआ दावानल उपशान्त नहीं होता, उसी प्रकार ठूंस-ठूंस कर खाने वाले की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नहीं होती। इसलिए अधिक मात्रा में भोजन करना किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता।

१२. जो विविक्त-शय्या और आसन से नियन्त्रित होते हैं, जो कम खाते हैं और जितेन्द्रिय होते हैं उनके चित्त को राग-शत्रु वैसे ही आक्रान्त नहीं कर सकता जैसे औषध से पराजित रोग देह को।

१३ जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहों का रहना अच्छा नहीं होता उसी प्रकार स्त्रियों की बस्ती के पास ब्रह्मचारी का रहना अच्छा नहीं होता।

१४. तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर आलाप, इङ्गित और चितवन को चित्त में रमा कर उन्हें देखने का संकल्प न करे।

१५. जो सदा ब्रह्मचर्य में रत हैं उनके लिए स्त्रियों को न देखना, न चाहना, न चिन्तन करना और न वर्णन करना हितकर है तथा धर्म्य-ध्यान के लिए उपयुक्त है।

१६. यह ठीक है कि तीन गुप्तियों से गुप्त मुनियों को विभूषित देवियाँ भी विचलित नहीं कर सकतीं, फिर भी भगवान् ने एकान्त हित की दृष्टि से उनके विविक्त-वास को प्रशस्त कहा है।

१७. मोक्ष चाहने वाले संसार-भीरु एवं धर्म में स्थित मनुष्य के लिए लोक में और कोई वस्तु ऐसी दुस्तर नहीं है जैसी दुस्तर अज्ञानियों के मन को हरने वाली स्त्रियाँ हैं।

१८. जो मनुष्य इन स्त्री-विषयक आसक्तियों का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियाँ वैसे ही सुख से पार पाने योग्य हो जाती हैं जैसे महासागर का पार पाने वाले के लिए गंगा जैसी बड़ी नदी।

१९. सब जीवों के, और क्या देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है वह काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है। वीतराग उस दुःख का अन्त पा जाता है।

२०. जैसे किंपाक फल खाने के समय रस और वर्ण से मनोरम होते हैं और परिपाक के समय क्षुद्र-जीवन का अन्त कर देते हैं, काम-गुण भी विपाक काल में ऐसे ही होते हैं।

२१ समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं उनकी ओर भी मन न करे—राग न करे और जो अमनोज्ञ विषय है उनकी ओर भी मन न करे—द्वेष न करे।

२२ चक्षु का विषय रूप है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में समान रहता है वह वीतराग होता है।

२३ चक्षु रूप का ग्रहण करता है। रूप चक्षु का ग्राह्य है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

२४ जो मनोज्ञ रूपों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे—प्रकाश-लोलुप पतंगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

२५ जो अमनोज्ञ रूप में तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। रूप उसका कोई अपराध नहीं करता।

२६ जो मनोहर रूप में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर रूप में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

२७ मनोज्ञ रूप की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

२८ रूप में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब में उसे सुख कहाँ है? और क्या उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

२९ जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरों की रूपवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

३० वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

३१. असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रूप मे अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रय-हीन हो जाता है।

३२. रूप मे अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है उस उपभोग मे भी अतृप्ति का दुःख बना रहता है।

३३. इसी प्रकार जो रूप में द्वेष रखता है वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बंध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

३४. रूप से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नहीं होता वैसे ही वह संसार मे रह कर भी अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

३५. श्रोत्र का विषय शब्द है। जो शब्द राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में समान रहता है वह वीतराग होता है।

३६. श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है। शब्द श्रोत्र का ग्राह्य है। जो शब्द राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

३७. जो मनोज्ञ शब्दों में तीव्र आसक्ति करता है वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे—शब्द मे अतृप्त बना हुआ रागातुर मुग्ध हरिण नामक पशु मृत्यु को प्राप्त होता है।

३८. जो अमनोज्ञ शब्द मे तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। शब्द उसका कोई अपराध नहीं करता।

३९. जो मनोहर शब्द में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर शब्द मे द्वेष करता है वह अज्ञानी दुःखात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता।

४०. मनोहर शब्द की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

४१. शब्द में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहाँ है ? और क्या, उसके उपभोग काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

४२ जो शब्द में अतृप्त होता है उसके परिग्रहण में आसक्त उपसक्त होता है, उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरे की शब्दवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

४३ वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और शब्द परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

४४ असत्य बोलने के पश्चात् पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह शब्द में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ, दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

४५. शब्द में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी अतृप्ति का दुःख बना रहता है।

४६ इसी प्रकार जो शब्द में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

४७ शब्द से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर भी अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

४८ घ्राण का विषय गन्ध है। जो गन्ध राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में समान रहता है वह वीतराग होता है।

४९ घ्राण गन्ध का ग्रहण करता है। गन्ध घ्राण का ग्राह्य है। जो गन्ध राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

५० जो मनोज्ञ गन्ध में तीव्र आसक्ति करता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे नाग-दमनी आदि औषधियों के गन्ध में गृद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

६१ रसना का विषय रस है। जो रस राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में समान रहता है वह वीतराग होता है।

६२ रसना रस का ग्रहण करती है। रस रसना का ग्राह्य है। जो रस राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

६३ जो मनोज्ञ रसों में तीव्र आसक्ति करता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे—मांस खाने में गृद्ध बना हुआ रागातुर मत्स्य कांटे से बींधा जाता है।

६४ जो अमनोज्ञ रस में तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। रस उसका कोई अपराध नहीं करता।

६५ जो मनोहर रस में एकान्त अनुरक्त रहता है और अमनोहर रस में द्वेष करता है वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उसमें लिप्त नहीं होता।

६६ मनोहर रस की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

६७ रस में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब में उसे सुख कहां है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

६८ जो रस में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त उपसक्त होता है उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की रसवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

६९ वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रस-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

७० असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता। इस प्रकार वह रस में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

७१. रस मे अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग मे भी अतृप्ति का दुःख बना रहता है।

७२. इसी प्रकार जो रस में द्वेष रखता है वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल मे उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

७३. रस मे विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल मे लिप्त नही होता वैसे ही वह ससार मे रह कर भी अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

७४. काय का विषय स्पर्श है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों मे समान रहता है वह वीतराग होता है।

७५. काय स्पर्श का ग्रहण करता है। स्पर्श काय का ग्राह्य है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

७६. जो मनोज्ञ स्पर्शों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे घड़ियाल के द्वारा पकड़ा हुआ, अरण्य-जलाशय के शीतल जल के स्पर्श में मग्न बना रागातुर भैंसा।

७७. जो अमनोज्ञ स्पर्श में तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। स्पर्श उसका कोई अपराध नहीं करता।

७८. जो मनोहर स्पर्श मे एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर स्पर्श से द्वेष करता है वह अज्ञानी दुःखात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता।

७९. मनोहर स्पर्श की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीडित करता है।

८०. स्पर्श में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब में उसे सुख कहाँ है ? और क्या, उसके उपभोग-काल मे भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

८१ जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की रूपवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

८२ वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

८३ असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलने समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रूप में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

८४ रूप में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी अतृप्ति का दुःख बना रहता है।

८५ इसी प्रकार जो रूप में द्वेष रखता है वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

८६ रूप से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता वैसे ही वह संसार में रह कर भी अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

८७ मन का विषय भाव (अभिप्राय) है। जो भाव राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ भावों में समान रहता है वह वीतराग होता है।

८८ मन भाव का ग्रहण करता है। भाव मन का ग्राह्य है। जो भाव राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

८९ जो मनोज्ञ भावों में तीव्र आसक्ति करता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे हथिनी के पथ में आकृष्ट काम-गुणों में गृद्ध बना हुआ हाथी।

९० जो अमनोज्ञ भाव से तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। भाव उसका कोई अपराध नहीं करता।

९१. जो मनोहर भाव में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर भाव में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

९२. मनोहर भाव की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

९३. भाव में अनुरक्त और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब में उसे सुख कहाँ है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

९४. जो भाव में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की वस्तुएँ चुरा लेता है।

९५. वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और भाव-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

९६. असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह भाव में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

९७. भाव में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी अतृप्ति का दुःख बना रहता है।

९८ इसी प्रकार जो भाव से द्वेष रखता है वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। वह प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

९९ भाव से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता वैसे ही वह संसार में रहकर भी अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

१००. इस प्रकार इन्द्रिय और मन के विषय रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु होते हैं। वे वीतराग के लिए कभी किंचित् भी दुःखदायी नहीं होते।

१०१ काम-भोग समता के हेतु भी नहीं होते और विकार के हेतु भी नहीं होते। जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है वह तद्विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है।

१०२ जो काम-गुणों में आसक्त होता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुंसक वेद तथा हर्ष, विषाद आदि विविध भाव—

१०३ इस प्रकार अनेक प्रकार के विकारों तथा उनसे उत्पन्न अन्य परिणामों को प्राप्त होता है और वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय बन जाता है।

१०४ 'यह मेरी शारीरिक सेवा करेगा'—इस लिप्सा से योग्य शिष्य की भी इच्छा न करे। साधु बन कर मैंने जितना कष्ट स्वीकार किया—इस प्रकार अनुतप्त व भोग-स्पृहयालु होकर तप के फल की इच्छा न करे। जो ऐसी इच्छा करता है वह इन्द्रियरूपी चोरों का वशवर्ती बना हुआ अपरिमित प्रकार के विकारों को प्राप्त होता है।

१०५ विकारों की प्राप्ति के पश्चात् उसके समक्ष उसे मोह-महार्णव में डुबाने वाले विषय-सेवन के प्रयोजन उपस्थित होते हैं। फिर वह सुख की प्राप्ति और दुःख के विनाश के लिए अनुरक्त बन कर उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए उद्यम करता है।

१०६ जितने प्रकार के शब्द आदि इन्द्रिय विषय हैं वे सब विरक्त मनुष्य के मन में मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं करते।

१०७ 'अपने राग-द्वेषात्मक संकल्प ही सब दोषों के मूल हैं'—जो इस प्रकार के चिन्तन में उद्यत होता है तथा इन्द्रिय विषय दोषों के मूल नहीं हैं—इस प्रकार का संकल्प करता है, उसके मन में समता उत्पन्न होती है। उससे उसकी काम-गुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

१०८ फिर वह वीतराग सब दिशाओं में कृतकृत्य होकर क्षण भर में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय कर देता है।

१०९ तत्पश्चात् वह सब कुछ जानता और देखता है तथा मोह और अन्तराय रहित हो जाता है। अन्त में वह आश्रव रहित और ध्यान के द्वारा समाधि में लीन और शुद्ध होकर आयुष्य का क्षय होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

११०. जो इस जीव को निरन्तर पीड़ित करता है, उस अशेष दुःख और दीर्घकालीन कर्म-रोग से वह मुक्त हो जाता है। इसलिए वह प्रशंसनीय, अत्यन्त सुखी और कृतार्थ हो जाता है।

१११. मैंने अनादिकालीन सब दुःखों से मुक्त होने का यह मार्ग बताया है। उसे स्वीकार कर जीव क्रमशः अत्यन्त सुखी हो जाते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

तेतीसवां अध्ययन

कर्म-प्रकृति

१ मैं अनुपूर्वी से क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) उन आठ कर्मों का निरूपण करूँगा जिनसे बधा हुआ यह जीव ससार में पर्यटन करता है।

२ ३ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार सक्षेप में ये आठ कर्म हैं।

४ ज्ञानावरण पांच प्रकार का है—

(१) श्रुत ज्ञानावरण
(२) आभिनिबोधिक ज्ञानावरण
(३) अवधि ज्ञानावरण
(४) मनो ज्ञानावरण
(५) केवल ज्ञानावरण।

५ (१) निद्रा
(२) प्रचला
(३) निद्रा निद्रा
(४) प्रचला प्रचला
(५) स्त्यान गृद्धि

६ (६) चक्षु-दर्शनावरण,
(७) अचक्षु दर्शनावरण,
(८) अवधि-दर्शनावरण और
(९) केवल-दर्शनावरण—इस प्रकार दर्शनावरण नौ प्रकार का है।

७ वेदनीय दो प्रकार का है—सात वेदनीय और असात वेदनीय। इन दोनों के अनेक प्रकार हैं।

८ मोहनीय भी दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय तीन प्रकार का और चारित्र मोहनीय दो प्रकार का होता है।

९ (१) सम्यक्त्व,
(२) मिथ्यात्व,
(३) सम्यक् मिथ्यात्व—ये दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं।

१०. चारित्र मोहनीय दो प्रकार का है—कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय।

११. कषाय मोहनीय कर्म के सोलह भेद होते हैं और नोकषाय मोहनीय कर्म के सात या नौ भेद होते हैं।

१२. आयु कर्म चार प्रकार का है—

(१) नैरयिक आयु
(२) तिर्यग् आयु
(३) मनुष्य आयु
(४) देव आयु।

१३. नाम-कर्म दो प्रकार का है—शुभ-नाम और अशुभ-नाम। इन दोनों के अनेक प्रकार हैं।

१४. गोत्र कर्म दो प्रकार का है—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। इन दोनों के आठ-आठ प्रकार हैं।

१५. अन्तराय कर्म सक्षेप मे पाँच प्रकार का है—

(१) दानान्तराय
(२) लाभान्तराय
(३) भोगान्तराय
(४) उपभोगान्तराय
(५) वीर्यान्तराय।

१६. कर्मो की ये ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियाँ और श्रुत-ज्ञानावरण आदि सत्तावन उत्तर प्रकृतियाँ कही गई हैं। इसके आगे तू उनके प्रदेशाग्र (परमाणुओके परिमाण) क्षेत्र, काल और भाव को सुन।

१५. एक समय में ग्राह्य सब कर्मों का प्रदेशाग्र अनन्त है। वह अभव्य जीवो से अनन्त गुण अधिक और सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितना होता है।

१८. सब जीवो के सग्रह-योग्य पुद्गल छहो दिशाओं—आत्मा से संलग्न सभी आकाश प्रदेशो—मे स्थित हैं। वे सब कर्म-परमाणु बन्ध-काल मे एक आत्मा के सभी प्रदेशो के साथ सम्बद्ध होते हैं।

१९-२०. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

२१ मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

२२ आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

२३ नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की होती है।

२४ कर्मों के अनुभाग सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितने होते हैं। सब अनुभागों का प्रदेश-परिमाण सब जीवों से अधिक होता है।

२५.-: इन कर्मों के अनुभागों को जान कर बुद्धिमान् इनका निरोध और क्षय करने का यत्न करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

चौतीसवाँ अध्ययन

लेश्या-अध्ययन

१. मैं आनुपूर्वी से क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) लेश्या-अध्ययन का निरूपण करूँगा। छहों कर्म-लेश्याओं के अनुभावों को तुम मुझसे सुनो।

२. लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य को तुम मुझ से सुनो।

३. यथाक्रम से लेश्याओं के ये नाम हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजस (५) पद्म और (६) शुक्ल।

४. कृष्ण लेश्या का वर्ण स्निग्ध मेघ, महिष-शृंग, द्रोण-काक, खञ्जन, अंजन व नयन-तारा के समान होता है।

५. नील लेश्या का वर्ण नील अशोक, चाष पक्षी के परों व स्निग्ध वैडूर्य मणि के समान होता है।

६. कापोत लेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, तैल-कण्टक व कबूतर के ग्रीवा के समान होता है।

७. तेजो लेश्या का वर्ण हिंगुल, गेरु, नवोदित सूर्य, तोते की चोंच, प्रदीप की लौ के समान होता है।

८. पद्म लेश्या का वर्ण भिन्न हरिताल, भिन्न हल्दी, सण और असन के पुष्प के समान होता है।

९. शुक्ल लेश्या का वर्ण शंख, अंकमणि, कुन्द-पुष्प, दुग्ध-प्रवाह, चाँदी व मुक्ताहार के समान होता है।

१०. कड़ुवे तुम्बे, नीम व कटुक रोहिणी का रस जैसा कड़ुवा होता है उससे भी अनन्त कड़ुवा रस कृष्ण लेश्या का होता है।

११. त्रिकटु और गजपीपल का रस जैसा तीखा होता है उससे भी अनन्त गुना तीखा रस नील लेश्या का होता है।

१२. कच्चे आम और कच्चे कपित्थ का रस जैसा कसैला होता है उससे भी अनन्त गुना कसैला रस कापोत लेश्या का होता है।

१३ पके हुए आम और पके हुए कपित्थ का रस जैसा खट-मीठा होता है। उससे भी अनन्त गुना खट-मीठा रस तेजो लेश्या का होता है।

१४ प्रधान सुरा, विविध आसवों, मधु और मैरेयक मदिरा का रस जैसा अम्ल—कसैला होता है उससे भी अनन्त गुना अम्ल रस पद्म लेश्या का होता है।

१५ खजूर, दाख, क्षीर, खाँड और शक्कर का रस जैसा मीठा होता है उससे भी अनन्त गुना मीठा रस शुक्ल लेश्या का होता है।

१६. गाय, श्वान और सर्प के मृत कलेवर की गन्ध जैसी होती है उससे भी अनन्त गुना गन्ध तीनों अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।

१७ सुगन्धित पुष्पों और पीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों की जैसी गन्ध होती है उससे भी अनन्त गुना गन्ध तीनों प्रशस्त लेश्याओं की होती है।

१८ करवत, गाय की जीभ और शाक वृक्षों के पत्रों का स्पर्श जैसा कर्कश होता है उससे भी अनन्त गुना कर्कश स्पर्श तीनों अप्रशस्त लेश्याओं का होता है।

१९. बूर, नवनीत और सिरीष के पुष्पों का स्पर्श जैसा मृदु होता है उससे भी अनन्त गुना मृदु स्पर्श तीनों प्रशस्त लेश्याओं का होता है।

२० लेश्याओं के तीन, नौ, सत्ताईस, इक्यासी या दो सौ तेंतालीस प्रकार के परिणाम होते हैं।

२१ जो मनुष्य पाँचों आश्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों से अगुप्त है, षट्-काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ (सावद्य-व्यापार) में संलग्न है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है—

२२ लौकिक और पारलौकिक दोषों की शंका से रहित मन वाला है, नृशंस है, अजितेन्द्रिय है—जो इन सभी से युक्त है वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है।

२३ जो मनुष्य ईर्ष्यालु है, कदाग्रही है, अतपस्वी है, मायावी है, निर्लज्ज है, गृद्ध है, प्रद्वेष करने वाला है, शठ है, प्रमत्त है, रस-लोलुप है, सुख का गवेषक है—

२४ आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है—जो इन सभी से युक्त है वह नील लेश्या में परिणत होता है।

२५. जो मनुष्य वचन से वक्र है, जिसका आचरण वक्र है, कपट करता है, सरलता से रहित है, अपने दोषों को छुपाता है, छद्म का आचरण करता है, मिथ्या-दृष्टि है, अनार्य है—

३९ शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त अधिक तैतीस सागर की होती है।

४० लेश्याओं की यह स्थिति सामान्य (अपृथग भाव) से कही गई है। अब आगे पृथग् भाव से चारों गतियों में लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूँगा।

४१ नारकीय जीवों के कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है।

४२ नील लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर की होती है।

४३ कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की होती है।

४४ यह नैरयिक जीवों के लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया गया है। इससे आगे तिर्यंच, मनुष्य और देवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूँगा।

४५ तिर्यञ्च और मनुष्य में जितनी लेश्याएँ होती हैं, उनमें से शुक्ल लेश्या को छोड़ कर शेष सब लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त की होती है।

४६ शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व की होती है।

४७ यह तिर्यञ्च और मनुष्य के लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया गया है। इससे आगे देवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूँगा।

४८ भवनपति और वाणव्यन्तर देवों के कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है।

४९ कृष्ण लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति होती है उसमें एक समय मिलाने पर वह नील लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है।

५० नील लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है उसमें एक समय मिलाने पर वह कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है।

५१. इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के तेजो लेश्या की स्थिति का निरूपण करूँगा ।

५२. तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है ।

५३. तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है ।

५४. जो तेजो लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है उसमें एक समय मिलाने पर वह पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक दस सागर की होती है ।

५५. जो पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है उसमे एक समय मिलाने पर वह शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागर की होती है ।

५६. कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अधर्म-लेश्याएँ हैं । इन तीनों से जीव दुर्गति को प्राप्त होता है ।

५७. तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीनों धर्म-लेश्याएँ हैं । इन तीनों से जीव सुगति को प्राप्त होता है ।

५८. पहले समय में परिणत सभी लेश्याओं से कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता ।

५९. अन्तिम समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता ।

६०. लेश्याओं की परिणति होने पर जब अंतर्मुहूर्त बीत जाता है और अंतर्मुहूर्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक में जाते हैं ।

६१. इसलिए इन लेश्याओं के अनुभागों को जान कर मुनि अप्रशस्त लेश्याओं का वर्जन करे और प्रशस्त लेश्याओं को स्वीकार करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

पैंतीसवाँ अध्ययन

अनगार-मार्ग-गति

१ तुम एकाग्र मन होकर बुद्धों (तीर्थंकरों) के द्वारा उपदिष्ट मार्ग को मुझ से सुनो जिसका आचरण करता हुआ भिक्षु दुःखों का अन्त कर देता है।

२. जो मुनि गृह-वास को छोड़ कर प्रव्रज्या का अंगीकार कर चुका है वह उन आसक्तियों को जाने, जिनमें मनुष्य लिप्त होता है।

३ संयमी मुनि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य-सेवन, इच्छा-काम (अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा) और लोभ—इन सब का परिवर्जन करे।

४ जो स्थान मनोहर चित्रों से आकीर्ण माल्य और धूप से सुवासित, किवाड़ सहित, श्वेत चन्दवा से युक्त हो वैसे स्थान की मन से भी अभिलाषा न करे।

५ काम राग को बढ़ाने वाले वैसे उपाश्रय में इंद्रियों पर नियन्त्रण पाना भिक्षु के लिए दुष्कर होता है।

६ इसलिए एकाकी भिक्षु श्मशान में, शून्यगृह में, वृक्ष के मूल में अथवा परकृत एकांत स्थान में रहने की इच्छा करे।

७ परम संयत भिक्षु प्रासुक अनाबाध और स्त्रियों के उपद्रव से रहित स्थान में रहने का संकल्प करे।

८-९. भिक्षु न स्वयं घर बनाए और न दूसरों से बनवाए। गृह निर्माण के समारम्भ में जीवों—त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर—का वध देखा जाता है। इसलिए संयत भिक्षु गृह-समारम्भ का परित्याग करे।

१० भक्त-पान के पकाने और पकवाने में हिंसा होती है, अतः प्राणों और भूतों की दया के लिए भिक्षु न पकाए और न पकवाए।

११ भक्त और पान के पकाने में जल और धान्य के आश्रित तथा पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित जीवों का हनन होता है इसलिए भिक्षु न पकवाए।

१२ अग्नि फैलने वाली, सब ओर से धार वाली और बहुत जीवों का विनाश करने वाली होती है। उसके समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं होता इसलिए भिक्षु उसे न जलाए।

१३. क्रय और विक्रय से विरत, मिट्टी के ढेले और सोने को समान समझने वाला भिक्षु सोने और चांदी की मन से भी इच्छा न करे ।

१४. वस्तु को खरीदने वाला क्रयिक होता है और बेचने वाला वणिक् । क्रय और विक्रय करने में वर्तन करने वाला भिक्षु वैसा नहीं होता—उत्तम भिक्षु नहीं होता ।

१५. भिक्षा-वृत्ति वाले भिक्षु को भिक्षा ही करनी चाहिए, क्रय-विक्रय नहीं । क्रय-विक्रय महान् दोष है । भिक्षा-वृत्ति सुख को देने वाली है ।

१६. मुनि सूत्र के अनुसार अनिन्दित और सामुदायिक उञ्छ की एषणा करे । वह लाभ और अलाभ से सन्तुष्ट रहकर पिण्ड-पात (भिक्षा) की चर्या करे ।

१७. अलोलुप, रस में अगृद्ध, जीभ का दमन करने वाला और अमूर्च्छित महामुनि स्वाद के लिए न खाए, किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए खाए ।

१८. मुनि अर्चना, रचना[1], वन्दना, पूजा, ऋद्धि और सत्कार की मन से भी अभिलाषा न करे ।

१९. मुनि शुक्ल ध्यान ध्याए । अनिदान और अकिंचन रहे । वह जीवन-भर देहाध्यास से मुक्त होकर विहरण करे ।

२०. समर्थ मुनि काल-धर्म के उपस्थित होने पर आहार का परित्याग कर मनुष्य शरीर को छोड़ कर दुःखों से विमुक्त हो जाता है ।

२१. निर्मम, निरहंकार, वीतराग और आस्रवों से रहित मुनि शाश्वत केवलज्ञान को प्राप्त कर परिनिर्वृत हो जाता है—सर्वथा आत्मस्थ हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

---

१. रचना—अक्षत, मोती आदि का स्वस्तिक बनाना ।

छत्तीसवाँ अध्ययन

जीवाजीव-विभक्ति

१ तुम एकाग्र मन होकर मेरे पास जीव और अजीव का वह विभाग सुनो जिसे जान कर श्रमण संयम में सम्यक् प्रयत्न करता है।

२ यह लोक जीव और अजीवमय है। जहाँ अजीव का देश आकाश ही है उसे अलोक कहा गया है।

३ जीव और अजीव की प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार दृष्टियों से होती है।

४ अजीव दो प्रकार का है—रूपी और अरूपी। अरूपी के दस और रूपी के चार प्रकार हैं।

५. धर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश, अधर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश—

६ आकाशास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश तथा एक अद्धासमय (काल)—ये दस भेद अरूपी अजीव के होते हैं।

७ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण हैं। आकाश लोक और अलोक—दोनों में व्याप्त है। समय समय-क्षेत्र (मनुष्य-लोक) में ही होता है।

८ धर्म-अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य अनादि अनन्त और सार्वकालिक होते हैं।

९ प्रवाह की अपेक्षा समय अनादि-अनन्त है। एक-एक क्षण की अपेक्षा से वह सादि-सान्त है।

१० रूपी पुद्गल के चार भेद होते हैं—१-स्कन्ध २-स्कन्ध-देश ३-स्कन्ध-प्रदेश और ४-परमाणु।

११ अनेक परमाणुओं के एकत्व से स्कन्ध बनता है और उसका पृथक्त्व होने से परमाणु बनते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से वे (स्कन्ध) लोक के एक देश

और समूचे लोक में भाज्य है–असंख्य विकल्प युक्त हैं। अब उनका चतुर्विध काल-विभाग कहूँगा।

१२. वे (स्कन्ध और परमाणु) प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं तथा स्थिति (एक क्षेत्र में रहने) की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१३. रूपी अजीवों (पुद्गलों) की स्थिति जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की होती है।

१४. उनका अंतर[1] जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल का होता है।

१५. वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनका परिणमन पांच प्रकार का होता है।

१६. वर्ण की अपेक्षा से उनकी परिणति पांच प्रकार की होती है–१-कृष्ण २-नील, ३-रक्त, ४-पीत और ५-शुक्ल।

१७. गन्ध की अपेक्षा से उनकी परिणति दो प्रकार की होती है—१-सुगन्ध और २-दुर्गन्ध।

१८. रस की अपेक्षा से उनकी परिणति पांच प्रकार की होती है—१-तिक्त २-कटु ३-कसैला ४-खट्टा और ५-मधुर।

१९-२०. स्पर्श की अपेक्षा से उनकी परिणति आठ प्रकार की होती है—१-कर्कश, २-मृदु, ३-गुरु, ४-लघु, ५-शीत, ६-उष्ण, ७-स्निग्ध और ८-रूक्ष।

२१. संस्थान की अपेक्षा से उनकी परिणति पांच प्रकार की होती है—१-परिमण्डल, २-वृत्त, ३-त्रिकोण, ४-चतुष्क और ५-आयत।

२२. जो पुद्गल वर्ण से कृष्ण है वह गंध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य (अनेक विकल्प युक्त) होता है।

२३. जो पुद्गल वर्ण से नील है वह गंध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२४. जो पुद्गल वर्ण से रक्त है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२५. जो पुद्गल वर्ण से पीत है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

---

१. अंतर—स्वस्थान से स्खलित होकर वापिस आने तक का काल।

२६ जो पुद्गल वर्ण से श्वेत है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२७ जो पुद्गल गन्ध से सुगन्ध वाला है वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२८ जो पुद्गल गन्ध से दुर्गन्ध वाला है वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२९. जो पुद्गल रस से तिक्त है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३० जो पुद्गल रस से कड़ुवा है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३१ जो पुद्गल रस से कसैला है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३२ जो पुद्गल रस से खट्टा है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३३ जो पुद्गल रस से मधुर है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है

३४ जो पुद्गल स्पर्श से कर्कश है वह वर्ण, गन्ध रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३५ जो पुद्गल स्पर्श से मृदु है वह वर्ण गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३६ जो पुद्गल स्पर्श से गुरु है वह वर्ण गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३७ जो पुद्गल स्पर्श से लघु है वह वर्ण गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३८ जो पुद्गल स्पर्श से शीत है वह वर्ण, गन्ध रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३९. जो पुद्गल स्पर्श से उष्ण है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४० जो पुद्गल स्पर्श से स्निग्ध है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४१. जो पुद्गल स्पर्श से रूक्ष है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४२. जो पुद्गल संस्थान से परिमण्डल है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४३. जो पुद्गल संस्थान से वृत्त है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४४. जो पुद्गल संस्थान से त्रिकोण है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४५. जो पुद्गल संस्थान से चतुष्कोण है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४६. जो पुद्गल संस्थान से आयत है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४७. यह अजीव-विभाग संक्षेप में कहा गया है। अब अनुक्रम से जीव-विभाग का निरूपण करूँगा।

४८. जीव दो प्रकार के होते हैं—संसारी और सिद्ध। सिद्ध अनेक प्रकार के होते है। मैं उनका निरूपण करता हूं तुम मुझ से सुनो।

४९. स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध अन्यलिंग सिद्ध, गृहलिंग सिद्ध आदि इनके अनेक प्रकार है।

५०. उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना[1] से ऊँचे-नीचे और तिरछे लोक में तथा समुद्र व अन्य जलाशयों में भी जीव सिद्ध होते हैं।

५१. दस नपुंसक, बीस स्त्रियाँ और एक सौ आठ पुरुष एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

५२. गृहस्थ वेश में चार, अन्यतीर्थिक वेश में दस और निर्ग्रन्थ वेश में एक सौ आठ जीव एक साथ सिद्ध हो सकते है।

५३. उत्कृष्ट अवगाहना में दो, जघन्य अवगाहना में चार मध्यम अवगाहना में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

५४. ऊँचे लोक में चार, समुद्र में दो, अन्य जलाशयों में तीन, नीचे लोक में बीस और तिरछे लोक में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

---

१. अवगाहना—शरीर की ऊँचाई।

५५ सिद्ध कहाँ रुकते हैं? कहाँ स्थित होते हैं? कहाँ शरीर को छोड़ते हैं? कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं?

५६ सिद्ध अलोक में रुकते हैं। लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं। मनुष्य लोक में शरीर को छोड़ते हैं और लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं।

५७ सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत् प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। वह छत्राकार में अवस्थित है।

५८ उसकी लम्बाई और चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन की है। उसकी परिधि उस (लम्बाई-चौड़ाई) से तिगुनी है।

५९ मध्य भाग में उसकी मोटाई आठ योजन की है। वह क्रमशः पतली होती-होती अन्तिम भाग में मक्खी के पर से भी अधिक पतली हो जाती है।

६० वह श्वेत-स्वर्णमयी, स्वभाव से निर्मल और उत्तान (सीधे) छत्राकार वाली है—ऐसा जिनवर ने कहा है।

६१ वह शंख, अंक-रत्न और कुन्द पुष्प के समान श्वेत, निर्मल और शुद्ध है। उस सीता नाम की ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अग्रभाग है।

६२ उस योजन के ऊपर के कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवस्थिति होती है।

६३ अनन्त शक्तिशाली भव प्रपंच से उन्मुक्त और सर्वश्रेष्ठ (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले वहाँ लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं।

६४ अंतिम भव में जिसकी जितनी ऊँचाई होती है, उससे एक तिहाई कम उसकी अवगाहना होती है।

६५ एक एक की अपेक्षा से सिद्ध सादि अनन्त और बहुत्व की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं।

६६ वे सिद्ध-जीव अरूप, एक दूसर से सटे हुए और ज्ञान-दर्शन से उपयुक्त होते हैं। उन्हें वैसा सुख प्राप्त होता है जिसकी इस संसार में कोई उपमा नहीं है।

६७ ज्ञान और दर्शन से सतत उपयुक्त संसार-समुद्र से निस्तीर्ण और सर्वश्रेष्ठ गति (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले सब सिद्ध लोक के एक देश में अवस्थित हैं।

६८. संसारी जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। स्थावर तीन प्रकार के हैं—

६९. (१) पृथ्वी (२) जल और (३) वनस्पति। ये तीन स्थावर के मूल भेद हैं। इनके उत्तर भेद मुझ से सुनो।

७०. पृथ्वी-काय के जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

७१. बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों के दो भेद हैं—मृदु और कठोर। मृदु के सात भेद हैं :—

७२. (१) कृष्ण (२) नील (३) रक्त (४) पीत (५) श्वेत (६) पाण्डु (भूरी मिट्टी) और (७) पनक। कठोर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार है :—

७३. (१) शुद्ध पृथ्वी (२) शर्करा (३) बालू (४) उपल (५) शिला (६) लवण (७) नोनी मिट्टी (८) लोहा (९) रांगा (१०) तांबा (११) शीशा (१२) चांदी (१३) सोना (१४) वज्र—

७४. (१५) हरिताल (१६) हिंगुल (१७) मैनसिल (१८) सस्यक (१९) अंजन (२०) प्रवाल (२१) अभ्रक पटल (२२) अभ्र बालुक। बादर पृथ्वीकाय में मणियों के भेद, जैसे—

७५. (२३) गोमेदक (२४) रुचक (२५) अंक (२६) स्फटिक और लोहिताक्ष (२७) मरकत एवं मसारगल्ल (२८) भुजमोचक (२९) इन्द्र-नील—

७६. (३०) चन्दन, गेरुक एवं हंसगर्भ (३१) पुलक (३२) सौगन्धिक (३३) चन्द्रप्रभ (३४) वैडूर्य (३५) जलकान्त और (३६) सूर्यकान्त।

७७. कठोर पृथ्वी के ये छत्तीस प्रकार होते हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व नहीं होता।[1]

७८. सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव समूचे लोक में और बादर पृथ्वीकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। इनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

---

१. ७१-७७ इन श्लोकों में मृदु पृथ्वी के सात और कठिन पृथ्वी के छत्तीस प्रकार बतलाए गये हैं। विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तराध्ययन—सटिप्पण-संस्करण।

७९. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८०. उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः बाईस हजार वर्ष की है।

८१. उनकी काय स्थिति[1] जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

८२. उनका अन्तर[2] जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

८३. वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

८४. अप्कायिक जीव दो प्रकार के है—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

८५. बादर पर्याप्त अप्कायिक जीवों के पाँच भेद होते हैं।

(१) शुद्धोदक (२) ओस (३) हरतनु[3] (४) कुहासा और (५) हिम।

८६. सूक्ष्म अप्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व नहीं होता। वे समूचे लोक में तथा बादर अप्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

८७. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८८. उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः सात हजार वर्ष की है।

८९. उनकी काय स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

९०. उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

९१. वर्ण गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

---

१ कायस्थिति—निरन्तर उसी एक काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा।

२ अन्तर—स्वकाय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल।

३ हरतनु—भूमि को भेद कर निकलता हुआ जल-बिन्दु।

९२. वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

९३. बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद होते हैं—साधारण-शरीर[1] और प्रत्येक-शरीर[2]।

९४. प्रत्येक-शरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली और तृण।

९५. लता-वलय (नारियल आदि), पर्वज (ईख आदि), कुहण (कुकुरमुत्ता आदि), जलरुह (कमल आदि), औषधि-तृण (अनाज) और हरित-काय—ये सब प्रत्येक-शरीर हैं।

९६. साधारण-शरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार हैं—आलू, मूली, अदरक—

९७. हिरलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सिरिलीकन्द, जावईकन्द, केद-कंदली-कन्द, प्याज, लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक—

९८. लोही, स्निहु, कुहक, कृष्ण, वज्रकन्द, सूरणकन्द—

९९. अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंढी और हरिद्रा आदि। ये सब साधारण-शरीर हैं।

१००. सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व नहीं होता। वे समूचे लोक में तथा बादर वनस्पतिकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

१०१. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१०२. उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः दस हजार वर्ष की है।

१०३. उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल की है।

१०४. उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टः असंख्यात काल का है।

---

१. साधारण-शरीर—जिसके एक शरीर में अनेक जीव होते हैं, वह।

२. प्रत्येक-शरीर—जिसके एक-एक शरीर में एक-एक जीव होता है, वह।

१०५. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१०६. यह तीन प्रकार के स्थावर जीवों का संक्षिप्त वर्णन है। अब तीन प्रकार के त्रस जीवों का क्रमशः निरूपण करूँगा।

१०७ तेजस्काय, वायुकाय और उदार त्रसकाय—ये तीन भेद त्रसकाय के हैं। अब इनके भेदों को मुझसे सुनो।

१०८ तेजस्कायिक जीवों के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

१०९ बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों के अनेक भेद हैं—अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला—

११० उल्का, विद्युत् आदि। सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व नहीं होता।

१११ सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव समूचे लोक में और बादर तेजस्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल विभाग का निरूपण करूँगा।

११२ प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

११३ उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन दिन-रात की है।

११४ उनकी काय स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

११५. उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

११६ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद हैं।

११७ वायुकायिक जीवों के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर। उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

११८. बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों के पाँच भेद होते हैं—(१) उत्कलिका (२) मण्डलिका (३) घनवात (४) गुंजावात और (५) शुद्धवात।

११९. उनके संवर्तक वात आदि और भी अनेक प्रकार हैं। सूक्ष्म वायुकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व नहीं होता।

१२०. सूक्ष्म-वायुकायिक जीव समूचे लोक में और बादर वायुकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१२१. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१२२. उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः तीन हजार वर्ष की है।

१२३. उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

१२४. उनका अंतर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१२५. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१२६. उदार त्रस-कायिक जीव चार प्रकार के होते हैं—(१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पंचेन्द्रिय।

१२७. द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१२८. कृमि, सौमंगल, अलस, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख, शंखनक—

१२९. पल्लोय, अणुल्लक, कोड़ी, जोंक, जालक, चंदनिया—

१३०. आदि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१३१. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१३२. उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः बारह वर्ष की है।

१३३. उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः संख्यात काल की है।

१३४. उनका अंतर जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१३५. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१३६. त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१३७ कुन्थु, चींटी, खटमल, मकड़ी, दीमक, तृणाहारक, काष्ठाहारक (घुन), मालुक, पत्राहारक—

१३८ कर्पासास्थि मिंजक, तिन्दुक, त्रपुष मिंजक, शतावरी, कानखजूरी, इन्द्रकायिक—

१३९. इंद्रगोपक आदि अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१४० प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१४१ उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः उनचास दिनों की है।

१४२ उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः संख्यात-काल की है।

१४३ उनका अन्तर जघन्यतः अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनंतकाल का है।

१४४ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१४५. चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१४६ अन्धिका, पोतिका, मक्षिका, मच्छर, भ्रमर, कीट, पतंग, ढिंकुण, कुंकुण—

१४७ शृंगिरीटी, कुक्कुड़, नन्दावर्त, बिच्छू, डोल, भृंगरीटक, विरली, अक्षिवेधक—

१४८ अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र-पत्रक, चित्र-पत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक, तन्तवक—

१४९ आदि अनेक प्रकार के चतुरिन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१५० प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त होते हैं।

१५१ उनकी आयु स्थिति जघन्यतः अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः छह मास की है।

१५२ उनकी काय स्थिति जघन्यतः अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः संख्यात काल की है।

१५३. उनका अन्तर जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१५४. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१५५. पचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं—(१) नैरयिक (२) तिर्यञ्च (३) मनुष्य और (४) देव।

१५६. नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं। वे सात पृथ्वियों में उत्पन्न होते हैं। वे सात पृथ्वियाँ ये हैं—(१) रत्नाभा, (२) शर्कराभा (३) बालुकाभा—

१५७. (४) पंकाभा (५) धूमाभा (६) तमः और (७) तमस्तमः—इन सात पृथ्वियों में उत्पन्न होने के कारण ही नैरयिक सात प्रकार के कहे गए हैं।

१५८. वे लोक के एक भाग में हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१५९. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१६०. पहली पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः एक सागरोपम की है।

१६१. दूसरी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः एक सागरोपम और उत्कृष्टतः तीन सागरोपम की है।

१६२. तीसरी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः तीन सागरोपम और उत्कृष्टतः सात सागरोपम की है।

१६३. चौथी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः सात सागरोपम और उत्कृष्टतः दस सागरोपम की है।

१६४. पाँचवीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस सागरोपम और उत्कृष्टतः सतरह सागरोपम की है।

१६५. छठी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः सतरह सागरोपम और उत्कृष्टतः बाईस सागरोपम की है।

१६६. सातवीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः बाईस सागरोपम और उत्कृष्टतः तेतीस सागरोपम की है।

१६७. नैरयिक जीवों की जो आयु-स्थिति है, वही उनकी जघन्यतः या उत्कृष्टतः काय-स्थिति है।

१६८ उनका अंतर जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त-काल का है।

१६९. वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१७० पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव दो प्रकार के हैं—सम्मूर्छिम तिर्यञ्च और गर्भ-उत्पन्न तिर्यञ्च।

१७१ ये दोनों ही जलचर, स्थलचर और खेचर के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१७२ जलचर जीव पांच प्रकार के हैं—(१) मत्स्य (२) कच्छप (३) ग्राह (४) मकर और (५) सुसुमार।

१७३ वे लोक के एक भाग में ही होते हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

१७४ प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१७५. उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत एक करोड़ पूर्व की है।

१७६ उनकी काय स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत (दो से नौ) पूर्व की है।

१७७ उनका अंतर जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त काल का है।

१७८ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१७९ स्थलचर जीव दो प्रकार के हैं—चतुष्पद और परिसर्प। चतुष्पद चार प्रकार के हैं। वे तुम मुझ से सुनो।

१८० (१) एक खुर—घोड़े आदि (२) दो खुर—बैल आदि, (३) गंडीपद—हाथी आदि, (४) सनखपद—सिंह आदि।

१८१ परिसर्प के दो प्रकार हैं—(१) भुजपरिसर्प—हाथों के बल चलने वाले गोह आदि। (२) उरपरिसर्प—पेट के बल चलने वाले सांप आदि। ये दोनों अनेक प्रकार के होते हैं।

१८२ वे लोक के एक भाग में होते हैं सम्पूर्ण लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल विभाग का निरूपण करूंगा।

१८३. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१८४. स्थलचर जीवों की आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की है।

१८५. जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम की है—

१८६. यह स्थलचर जीवों की काय-स्थिति है। उनका अंतर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

१८७. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१८८. खेचर जीव चार प्रकार के हैं—(१) चर्म पक्षी (२) रोम पक्षी (३) समुद्ग पक्षी और (४) वितत पक्षी।

१८९. वे लोक के एक भाग में होते हैं—समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१९०. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१९१. उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग की है।

१९२. जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग—

१९३. यह खेचर जीवों की काय-स्थिति है। उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१९४. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१९५. मनुष्य दो प्रकार के हैं—सम्मूर्च्छिम और गर्भ-उत्पन्न।

१९६. गर्भ-उत्पन्न मनुष्य तीन प्रकार के हैं—(१) अकर्म-भूमिक (२) कर्म-भूमिक और (३) अन्तर्द्वीपक।

१९७. कर्म-भूमिक मनुष्यों के पन्द्रह, अकर्म-भूमिक के तीस तथा अन्तर्द्वीपक मनुष्यों के अठाईस भेद होते हैं।

१९८. सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के भी उतने ही भेद हैं जितने गर्भ-उत्पन्न मनुष्यों के हैं। वे लोक के एक भाग में ही होते हैं।

१९९. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

२०० उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की है।

२०१ जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम—

२०२ यह मनुष्यों की काय स्थिति है। उनका अन्तर जघन्यतः अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

२०३ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

२०४ देव चार प्रकार के हैं (१) भवनवासी (२) व्यन्तर (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

२०५. भवनवासी देव दस प्रकार के हैं। व्यन्तर आठ प्रकार के हैं। ज्योतिष्क पाँच प्रकार के हैं। वैमानिक दो प्रकार के हैं।

२०६ (१) असुर कुमार (२) नाग कुमार (३) सुपर्ण कुमार (४) विद्युत् कुमार (५) अग्नि कुमार (६) द्वीप कुमार (७) उदधि कुमार (८) दिक् कुमार (९) वायु कुमार और (१०) स्तनित कुमार—ये भवनवासी देवों के दस प्रकार हैं।

२०७ (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गन्धर्व—ये व्यन्तर देवों के आठ नाम हैं।

२०८ (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) नक्षत्र (४) ग्रह और (५) तारा—ये पाँच भेद ज्योतिष्क देवों के हैं। ये दिशा-विचारी—मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए विचरण करने वाले हैं।

२०९. वैमानिक देवों के दो प्रकार हैं—कल्पोपग और कल्पातीत।

२१० कल्पोपग बारह प्रकार के हैं—(१) सौधर्म (२) ईशानक (३) सनत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोक (६) लान्तक—

२११ (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत।

२१२ कल्पातीत देवों के दो प्रकार हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर। ग्रैवेयकों के निम्नोक्त नौ प्रकार हैं।

२१३ (१) अधः-अधस्तन (२) अधः-मध्यम (३) अधः-उपरितन (४) मध्य-अधस्तन—

२१४. (५) मध्य-मध्यम (६) मध्य-उपरितन (७) उपरि-अधस्तन (८) उपरि- मध्यम—

२१५. और (९) उपरि-उपरितन—ये ग्रैवेयक देव हैं। (१) विजय (२) वैजयन्त (३) जयन्त (४) अपराजित—

२१६. और (५) सर्वार्थसिद्धक—ये अनुत्तर देवों के पांच प्रकार हैं। इस प्रकार वैमानिक देवों के अनेक प्रकार है।

२१७. वे सब लोक के एक भाग में रहते हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

२१८. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादिसान्त हैं।

२१९. भवनवासी देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक एक सागरोपम है।

२२०. व्यन्तर देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः एक पल्योपम की है।

२२१. ज्योतिष्क देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः पल्योपम के आठवें भाग और उत्कृष्टतः एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है।

२२२. सौधर्म देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः एक पल्योपम और उत्कृष्टतः दो सागरोपम की है।

२२३. ईशान देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः किंचित् अधिक एक पल्योपम और उत्कृष्टतः किंचित अधिक दो सागरोपम की है।

२२४. सनत्कुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दो सागरोपम और उत्कृष्टतः सात सागरोपम की है।

२२५ माहेन्द्रकुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः किंचित् दो सागरोपम और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक सात सागरोपम की है।

२२६ ब्रह्मलोक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः सात सागरोपम और उत्कृष्टतः दस सागरोपम की है।

२२७. लान्तक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस सागरोपम और उत्कृष्टतः चौदह सागरोपम की है।

२२८. महाशुक्र देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः चौदह सागरोपम और उत्कृष्टतः सतरह सागरोपम की है।

२२९. सहस्रार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः सतरह सागरोपम और उत्कृष्टतः अठारह सागरोपम की है।

२३०. आनत देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः अठारह सागरोपम और उत्कृष्टतः उन्नीस सागरोपम की है।

२३१. प्राणत देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः उन्नीस सागरोपम और उत्कृष्टतः बीस सागरोपम की है।

२३२. आरण देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः बीस सागरोपम और उत्कृष्टतः इक्कीस सागरोपम की है।

२३३. अच्युत देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः इक्कीस सागरोपम और उत्कृष्टतः बाईस सागरोपम की है।

२३४. प्रथम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः बाईस सागरोपम और उत्कृष्टतः तेईस सागरोपम की है।

२३५. द्वितीय ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः तेईस सागरोपम और उत्कृष्टतः चौबीस सागरोपम की है।

२३६. तृतीय ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः चौबीस सागरोपम और उत्कृष्टतः पचीस सागरोपम की है।

२३७. चतुर्थ ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः पचीस सागरोपम और उत्कृष्टतः छब्बीस सागरोपम की है।

२३८. पंचम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः छब्बीस सागरोपम और उत्कृष्टतः सत्ताईस सागरोपम की है।

२३९. षष्ठ ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः सत्ताईस सागरोपम और उत्कृष्टतः अठाईस सागरोपम की है।

२४०. सप्तम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः अठाईस सागरोपम और उत्कृष्टतः उनतीस सागरोपम की है।

२४१. अष्टम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः उनतीस सागरोपम और उत्कृष्टतः तीस सागरोपम की है।

२४२. नवम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः तीस सागरोपम और उत्कृष्टतः इकतीस सागरोपम की है।

२४३. विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः इकतीस सागरोपम और उत्कृष्टतः तेतीस सागरोपम की है।

२४४. सर्वार्थसिद्धक देवों की जघन्यतः और उत्कृष्टतः आयु-स्थिति तेतीस सागरोपम की है।

२४५. सारे ही देवों की जितनी आयु-स्थिति है उतनी ही उनकी जघन्यतः या उत्कृष्टतः काय-स्थिति है।

२४६. उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

२४७. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

२४८. संसारी और सिद्ध—इन दोनों प्रकार के जीवों की व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार रूपी और अरूपी—इन दोनों प्रकार के अजीवों की व्याख्या की गई है।

२४९. इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को सुनकर, उसमें श्रद्धा उत्पन्न कर मुनि सभी नयों के द्वारा अनुमत संयम में रमण करे।

२५० मुनि अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन कर इस क्रमिक प्रयत्न से आत्मा को कसे—संलेखना करे।

२५१. संलेखना उत्कृष्टतः बारह वर्ष, मध्यमतः एक वर्ष तथा जघन्यतः छह मास की होती है।

२५२. संलेखना करने वाला मुनि चार वर्षों में विकृतियों (रसों) का परित्याग करे। दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप (उपवास, बेला, तेला आदि) का आचरण करे।

२५३. फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप[1] करे। भोजन के दिन आचाम्ल करे। ग्यारहवें वर्ष के पहले छह महीनों तक कोई भी विकृष्ट तप (तेला, चोला आदि) न करे।

२५४. ग्यारहवें वर्ष के पिछले छह महीनों में विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष में परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५. बारहवें वर्ष में मुनि कोटि-सहित (निरन्तर) आचाम्ल करे। फिर पक्ष या मास का आहार त्याग (अनशन) करे।

२५६. कांदर्पी भावना, आभियोगी भावना, किल्बिषिकी भावना, मोही

---

१. एकान्तर तप—ऐसी तपस्या जिसमें एक दिन उपवास और एक दिन भोजन किया जाता है।

भावना तथा आसुरी भावना—ये पाँच भावनाएँ दुर्गति की हेतुभूत हैं। मृत्यु के समय ये सम्यग्-दर्शन आदि की विराधना करती हैं।

२५७ मिथ्या-दर्शन में रत, सनिदान और हिंसक दशा में जो मरते हैं उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२५८ सम्यग्-दर्शन में रत, अनिदान और शुक्ल-लेश्या में प्रवर्तमान जो जीव मरते हैं उनके लिए बोधि सुलभ है।

२५९. जो मिथ्या-दर्शन में रत, सनिदान और कृष्ण-लेश्या में प्रवर्तमान होते हैं उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२६० जो जिन-वचन में अनुरक्त हैं तथा जिन-वचनों का भाव-पूर्वक आचरण करते हैं वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर अल्प जन्म-मरण वाले हो जाते हैं।

२६१ जो प्राणी जिन-वचनों से परिचित नहीं हैं वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाम मरण करते रहेंगे।

२६२ जो अनेक शास्त्रों के विज्ञाता, समाधि उत्पन्न करने वाले और गुणग्राही होते हैं वे अपने इन्हीं गुणों के कारण आलोचना सुनने के अधिकारी होते हैं।

२६३ जो काम-कथा करता रहता है, दूसरों को हँसाने की चेष्टा करता रहता है, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओं के द्वारा दूसरों को विस्मित करता रहता है, वह कांदर्पी भावना का आचरण करता है।

२६४ जो सुख, रस और समृद्धि के लिए मंत्र योग और भूति-कर्म का प्रयोग करता है वह आभियोगी भावना का आचरण करता है।

२६५. जो ज्ञान, केवल ज्ञानी, धर्माचार्य, संघ तथा साधुओं की निन्दा करता है वह मायावी पुरुष किल्विषिकी भावना का आचरण करता है।

२६६ जो क्रोध को सतत बढ़ावा देता रहता है और निमित्त कहता है वह अपनी इन प्रवृत्तियों के कारण आसुरी भावना का आचरण करता है।

२६७ जो शस्त्र के द्वारा, विष भक्षण के द्वारा, अग्नि में प्रविष्ट होकर या पानी में कूद कर आत्म-हत्या करता है और जो मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है वह जन्म मरण की परम्परा को पुष्ट करता है—मोही भावना का आचरण करता है।

२६८ इस प्रकार भव्य जीवों द्वारा सम्मत छत्तीस उत्तराध्ययनों का तत्त्ववेत्ता, उपशान्तात्मा, ज्ञात-वंशीय भगवान् महावीर ने प्रादुष्करण किया।

—ऐसा मैं कहता हूँ

परिशिष्ट

(इकतीसवें अध्ययन में आए हुए कुछ-एक विषयों का विवरण)

श्लोक ९

१ आहार-सम्बन्धी सात अभिग्रह—

(१) संसृष्टा—खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(२) असंसृष्टा—भोजन-जात से अलिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(३) उद्धृता—अपने प्रयोजन के लिए रांधने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार लेना।

(४) अल्पलेपा—अल्प लेप वाली अर्थात् चना, चिउड़ा आदि रूखी वस्तु लेना।

(५) अवगृहीता—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

(६) प्रगृहीता—परसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकाला हुआ आहार लेना।

(७) उज्झितधर्मा—जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना।

२ स्थान-सम्बन्धी सात अभिग्रह—

(१) मैं अमुक प्रकार के स्थान में रहूँगा, दूसरे में नहीं।

(२) मैं दूसरे साधुओं के लिए स्थान की याचना करूँगा। दूसरों के द्वारा याचित स्थान में मैं रहूँगा।

(३) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना करूँगा, किन्तु दूसरों के द्वारा याचित स्थान में नहीं रहूँगा।

(४) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना नहीं करूँगा, परन्तु दूसरों के द्वारा याचित स्थान में रहूँगा।

(५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरों के लिए नहीं।

(६) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ पलाल आदि का संस्तारक प्राप्त हो तो लूँगा अन्यथा ऊकडू या नैषधिक आसन से बैठे-बैठे रात बिताऊँगा।

(७) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ हो सहज बिछे हुए शिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त हो तो लूंगा अन्यथा उत्कटुक या नैषधिक आसन से बैठे-बैठे रात बिताऊँगा।

३. भय के सात स्थान—

(१) इहलोक-भय—सजातीय से भय, जैसे—मनुष्य को मनुष्य से भय, देव को देव से भय।

(२) परलोक-भय—विजातीय से भय, जैसे—मनुष्य को देव, तिर्यञ्च आदि का भय।

(३) आदान-भय—धन आदि पदार्थों के अपहरण करने वाले से होने वाला भय।

(४) अकस्मात्-भय—किसी बाह्य निमित्त के बिना ही उत्पन्न होने वाला भय, अपने ही विकल्पों से होने वाला भय।

(५) वेदना-भय—पीड़ा आदि से उत्पन्न भय।

(६) मरण-भय—मृत्यु का भय।

(७) अश्लोक-भय—अकीर्ति का भय।

श्लोक १० :

४. आठ मद-स्थान—

(१) जाति-मद	(५) तपो-मद
(२) कुल-मद	(६) श्रुत-मद
(३) बल-मद	(७) लाभ-मद
(४) रूप-मद	(८) ऐश्वर्य-मद।

५. ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियाँ—

देखें—उत्तराध्ययन का सोलहवाँ अध्ययन।

६. दस प्रकार का भिक्षु-धर्म—

(१) क्षान्ति	(६) सत्य
(२) मुक्ति (अनासक्ति)	(७) संयम
(३) मार्दव	(८) तप
(४) आर्जव	(९) त्याग
(५) लाघव	(१०) ब्रह्मचर्य।

श्लोक ११

७ उपासक की ग्यारह प्रतिमाएं—

(१) दर्शन-श्रावक
(२) कृत-व्रत श्रावक
(३) कृत-सामायिक
(४) पौषधोपवास निरत
(५) दिन में ब्रह्मचारी और रात्रि में परिमाण करने वाला।
(६) दिन और रात में ब्रह्मचारी, स्नान न करने वाला, दिन में भोजन करने वाला और कच्छ न बांधने वाला।
(७) सचित्त-परित्यागी
(८) आरम्भ-परित्यागी
(९) प्रेष्य-परित्यागी
(१०) उद्दिष्ट भक्त परित्यागी
(११) श्रमण भूत

८ भिक्षु की बारह प्रतिमाएं—

(१) एक मासिकी भिक्षु प्रतिमा
(२) दो मासिकी भिक्षु प्रतिमा
(३) तीन मासिकी भिक्षु-प्रतिमा
(४) चार मासिकी भिक्षु-प्रतिमा
(५) पांच मासिकी भिक्षु प्रतिमा
(६) छह मासिकी भिक्षु-प्रतिमा
(७) सात मासिकी भिक्षु-प्रतिमा।
(८) तत्पश्चात् प्रथम सात दिन रात की भिक्षु प्रतिमा
(९) दूसरी सात दिन रात की भिक्षु प्रतिमा
(१०) तीसरी सात दिन रात की भिक्षु प्रतिमा
(११) एक अहोरात्र की भिक्षु प्रतिमा
(१२) एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा।

श्लोक १२

९. तेरह क्रियाएं—

(१) अर्थ-दण्ड—शरीर, स्वजन धन आदि प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा।
(२) अनर्थ-दण्ड—बिना प्रयोजन मौज-शौक के लिए की जाने वाली हिंसा।
(३) हिंसा-दण्ड—इसने मुझे मारा था मारता है, मारेगा—इस प्रणिधान से हिंसा करना।

(४) अकस्मात्-दण्ड---एक के वध की प्रवृत्ति करते हुए अकस्मात् दूसरे की हिंसा कर डालना ।

(५) दृष्टि-विपर्यास-दण्ड—मति-भ्रम मे होने वाली हिंसा अथवा मित्र आदि को अमित्र बुद्धि से मारना ।

(६) मृषावाद-प्रत्यय—स्व, पर या उभय के लिए मृषावाद से होने वाली हिंसा ।

(७) अदत्तादान-प्रत्यय—स्व, पर या उभय के लिए अदत्तादान से होने वाली हिंसा ।

(८) आध्यात्मिक—वाह्य निमित्त के विना, मन मे स्वतः उत्पन्न होने वाली हिंसा ।

(९) मान-प्रत्यय —जाति आदि के मद से होने वाली हिंसा ।

(१०) मित्र-द्वेष-प्रत्यय—माता-पिता या दास-दासी के अल्प अपराध मे भी बडा दण्ड देने से होने वाली हिंसा ।

(११) माया-प्रत्यय—माया से होने वाली हिंसा ।

(१२) लोभ-प्रत्यय—लोभ से होने वाली हिंसा ।

(१३) ऐर्या-पथिक—केवल योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से होने वाला कर्म-वन्धन ।

१० पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देव—

(१) अव
(२) अवपि
(३) श्याम
(४) शवल
(५) रुद्र
(६) उपरुद्र
(७) काल
(८) महाकाल
(९) असिपत्र
(१०) धनु
(११) कुम्भ
(१२) वालुक
(१३) वैतरणि
(१४) खरस्वर
(१५) महाघोप ।

श्लोक १३

११ सत्रह प्रकार का असंयम—

(१) पृथ्वीकाय-असंयम
(२) अप्काय-असंयम
(३) तेजस्काय असंयम
(४) वायुकाय-असंयम
(५) वनस्पतिकाय असंयम
(६) द्वीन्द्रिय-असंयम
(७) त्रीन्द्रिय असंयम
(८) चतुरिन्द्रिय-असंयम
(९) पंचेन्द्रिय असंयम
(१०) अजीवकाय-असंयम
(११) प्रेक्षा-असंयम—अप्रतिलेखन या अविधि प्रतिलेखन से होने वाला असंयम।
(१२) उपेक्षा असंयम—संयम की उपेक्षा और असंयम में व्यापार।
(१३) अपहृत्य असंयम—उच्चार आदि का अविधि से परिष्ठापन करने से होने वाला असंयम।
(१४) अप्रमार्जन असंयम—पात्र आदि का अप्रमार्जन या अविधि से प्रमार्जन करने से होने वाला असंयम।
(१५) मन असंयम
(१६) वचन असंयम
(१७) काय-असंयम

श्लोक १४

१२ अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य—

देखें—उत्तराध्ययन का सटिप्पण संस्करण।

१३ ज्ञाता धर्म कथा के उन्नीस अध्ययन—

(१) उत्क्षिप्त ज्ञात	(८) मल्ली	(१४) तेतली
(२) संघाट	(९) माकन्दी	(१५) नन्दी-फल
(३) अण्ड	(१०) चन्द्रिका	(१६) अवरकंका
(४) कूर्म	(११) दावद्रव	(१७) आकीर्ण
(५) शैलक	(१२) उदक-ज्ञात	(१८) सुंसुमा
(६) तुम्ब	(१३) मण्डूक	(१९) पुण्डरीक ज्ञात
(७) रोहिणी		

१४ बीस असमाधि-स्थान—

(१) धम धम करते चलना।
(२) प्रमार्जन किए बिना चलना।
(३) अविधि से प्रमार्जन कर चलना।

(४) प्रमाण से अधिक शय्या, आसन आदि रखना।

(५) रात्निक साधुओं का पराभव - तिरस्कार करना, उनके सामने मर्यादा-रहित बोलना।

(६) स्थविरों का उपघात करना।

(७) प्राणियों का उपघात करना।

(८) प्रति क्षण क्रोध करना।

(९) अत्यन्त क्रोध करना।

(१०) परोक्ष मे अवर्णवाद बोलना।

(११) बार-बार निश्चयकारी भाषा बोलना।

(१२) अनुत्पन्न नए-नए कलहों को उत्पन्न करना।

(१३) उपशमित और क्षमित पुराने कलहों की उदीरणा करना।

(१४) सरजस्क हाथ-पैरों का व्यापार करना।

(१५) अकाल मे स्वाध्याय करना।

(१६) कलह करना।

(१७) रात्रि मे जोर से बोलना।

(१८) झंझा (खटपट) करना।

(१९) सूर्योदय से सूर्यास्त तक बार-बार भोजन करना।

(२०) एषणा-समिति रहित होना।

श्लोक १५ :

१५. इक्कीस प्रकार के शबल दोष—

(१) हस्त-कर्म करना।

(२) मैथुन का प्रतिसेवन करना।

(३) रात्रि-भोजन करना।

(४) आधा-कर्म आहार करना।

(५) सागारिक (शय्यातर) पिंड खाना।

(६) औद्देशिक, क्रीत या सामने लाकर दिया जाने वाला भोजन करना।

(७) बार-बार प्रत्याख्यान कर खाना।

(८) एक महीने के अन्दर एक गच्छ से दूसरे गच्छ मे जाना।

(९) एक महीने के अदर तीन उदक-लेप लगाना।

(१०) एक महीने मे तीन बार माया का सेवन करना।

(११) राज पिण्ड का भोजन करना।
(१२) जान बूझ कर हिंसा करना।
(१३) जान-बूझ कर मृषावाद बोलना।
(१४) जान बूझ कर अदत्तादान लेना।
(१५) जान-बूझ कर अन्तर रहित (सचित्त) पृथ्वी पर स्थान या निषद्या करना।
(१६) जान बूझकर सचित्त पृथ्वी पर तथा सचित्त शिला पर, घुण वाले काष्ठ पर शय्या अथवा निषद्या करना।
(१७) जीव सहित, प्राण सहित, बीज सहित, हरित सहित, उत्तिंग सहित, सीलन-फुलन, कीचड़ तथा मकड़ी के जाल वाली तथा इसी प्रकार की अन्य पृथ्वी पर बैठना, सोना और स्वाध्याय करना। स्कन्ध का भोजन, प्रवाल का भोजन, पुष्प का भोजन, फल का भोजन करना।
(१८) जान-बूझकर मूल का भोजन, कन्द का भोजन, हरित का भोजन करना।
(१९) एक वर्ष में दस उदक-लेप लगाना।
(२०) एक वर्ष में दस बार माया-स्थान का सेवन करना।
(२१) सचित्त जल से लिप्त हाथों से बार-बार अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को लेना तथा उन्हें खाना।

श्लोक १६

१६ सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययन—

सूत्रकृतांग के दो विभाग हैं—(१) प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं और (२) दूसरे श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन हैं—

(१) समय	(९) धर्म	(१७) पुण्डरीक
(२) वैतालिक	(१०) समाधि	(१८) क्रिया-स्थान
(३) उपसर्ग-परिज्ञा	(११) मार्ग	(१९) आहार परिज्ञा
(४) स्त्री-परिज्ञा	(१२) समवसरण	(२०) अप्रत्याख्यान परिज्ञा
(५) नरक विभक्ति	(१३) यथातथ्य	
(६) महावीर-स्तुति	(१४) ग्रन्थ	(२१) अनगार-श्रुत
(७) कुशील-परिभाषित	(१५) यमक	(२२) आर्द्रकुमारीय
(८) वीर्य	(१६) गाथा	(२३) नालन्दीय।

१७ चौबीस प्रकार के देव—

१० प्रकार के भवनपति देव।

८ प्रकार के व्यन्तर देव।

५ प्रकार के ज्योतिष देव।

१ समस्त वैमानिक देव।

अथवा – २४ तीर्थंकर।

श्लोक १७ :

१८. पच्चीस भावनाएँ—

भावना का अर्थ है— वह क्रिया जिससे आत्मा को संस्कारित, वासित या भावित किया जाता है। पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ हैं। (देखें—आचारांग २।१५)

१९. छब्बीस उद्देश—

दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार—इन तीन सूत्रों के २६ उद्देशन-काल हैं—दशाश्रुतस्कंध के १० उद्देशन-काल।

कल्प (बृहत्कल्प) के ६ उद्देशन-काल।

व्यवहार-सूत्र के १० उद्देशन-काल।

श्लोक १८ :

२०. साधु के सत्ताईस गुण—

(१) प्राणातिपात से विरमण
(२) मृषावाद से विरमण
(३) अदत्तादान से विरमण
(४) मैथुन से विरमण
(५) परिग्रह से विरमण
(६) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह
(७) चक्षु-इन्द्रिय-निग्रह
(८) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह
(९) रसनेन्द्रिय निग्रह
(१०) स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह
(११) क्रोध-विवेक
(१२) मान-विवेक
(१३) माया-विवेक
(१४) लोभ-विवेक
(१५) भाव-सत्य
(१६) करण-सत्य
(१७) योग-सत्य
(१८) क्षमा
(१९) विरागता
(२०) मन-समाधारणता
(२१) वचन-समाधारणता
(२२) काय-समाधारणता
(२३) ज्ञान-सम्पन्नता
(२४) दर्शन-सम्पन्नता
(२५) चारित्र-सम्पन्नता
(२६) वेदना-अधिसहन
(२७) मारणान्तिक-अधिसहन।

२१ अठाईस आचार-प्रकल्प—

प्रकल्प का अर्थ है 'वह शास्त्र जिसमें मुनि के कल्प-व्यवहार का निरूपण हो'। आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन, दूसरे श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन और निशीथ सूत्र के तीन अध्ययन [९+१६+३=२८] का आचार-प्रकल्प कहा गया है।

विशेष विवरण के लिये देखें—उत्तराध्ययन, सटिप्पण संस्करण।

श्लोक १९

२२ उनतीस पाप-श्रुत-प्रसंग—

पाप के उपादानकारणभूत जो शास्त्र हैं, उन्हें 'पाप-श्रुत' कहते हैं। उन शास्त्रों का प्रसंग अर्थात् अभ्यास पाप-श्रुत प्रसंग है। वे २९ हैं—

(१) भौम—भूकम्प आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(२) उत्पात—स्वाभाविक उत्पातों का फल बताने वाला निमित्त शास्त्र।

(३) स्वप्न—स्वप्न के शुभाशुभ फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(४) अंतरिक्ष—आकाश में उत्पन्न होने वाले नक्षत्रों के युद्ध का फलाफल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(५) अंग—अंग-स्फुरण का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(६) स्वर—स्वर के शुभाशुभ फल का निरूपण करने वाला निमित्त-शास्त्र।

(७) व्यञ्जन—तिल, मसा आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(८) लक्षण—अनेक प्रकार के लक्षणों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र। इन आठों के तीन-तीन प्रकार होते हैं— (१) सूत्र (२) वृत्ति और (३) वार्तिक। इस तरह २४ पाप-श्रुत प्रसंग हुए। अवशेष निम्न प्रकार हैं—

(२५) विकथानुयोग—अर्थ और काम के उपायों के प्रतिपादक ग्रन्थ। जैसे—कामदक वात्स्यायन भारत आदि।

(२६) विद्यानुयोग—रोहिणी आदि विद्या की सिद्धि बताने वाला शास्त्र।

(२७) मंत्रानुयोग—मंत्र-शास्त्र।

(२८) योगानुयोग—वशीकरण-शास्त्र हर-मेखलादि शास्त्र।

(२९) अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग—अन्यतीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित शास्त्र।

२३. मोह के तीस स्थान—

मोह कर्म के परमाणु व्यक्ति को मूढ़ बनाते हैं। उनका संग्रह व्यक्ति अपनी ही दुष्प्रवृत्तियों से करता है। यहाँ महामोह उत्पन्न करने वाली तीस प्रवृत्तियों का उल्लेख है। वे इस प्रकार हैं—

(१) त्रस-प्राणी को पानी में डुबो कर मारना।

(२) सिर पर चर्म आदि बाँध कर मारना।

(३) हाथ से मुख बंद कर सिसकते हुए प्राणी को मारना।

(४) मण्डप आदि में मनुष्यों को घेर, वहाँ अग्नि जला, धुएँ की घुटन से उन्हें मारना।

(५) संक्लिष्ट चित्त से सिर पर प्रहार करना, उसे फोड़ डालना।

(६) विश्वासघात कर मारना।

(७) अनाचार को छिपाना, माया को माया से पराजित करना, की हुई प्रतिज्ञाओं को अस्वीकार करना।

(८) अपने द्वारा कृत हत्या आदि महादोष का दूसरे पर आरोप लगाना।

(९) यथार्थ को जानते हुए भी सभा के समक्ष मिश्र-भाषा बोलना—सत्यांश की ओट में बड़े झूठ को छिपाने का यत्न करना और कलह करते ही रहना।

(१०) अपने अधिकारी की स्त्रियों या अर्थ-व्यवस्था को अपने अधीन बना उसे अधिकार और भोग-सामग्री से वंचित कर डालना, रूखे शब्दों में उसकी भर्त्सना करना।

(११) बाल-ब्रह्मचारी न होने पर भी अपने-आप को बाल-ब्रह्मचारी कहना।

(१२) अब्रह्मचारी होते हुए भी अपने-आप को ब्रह्मचारी कहना।

(१३) जिसके सहारे जीविका चलाए, उसी के धन को हड़पना।

(१४) जिस ऐश्वर्यशाली व्यक्ति या जन-समूह के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया, उसी के भोगों का विच्छेद करना।

(१५) पोषण देने वाले व्यक्ति, सेनापति और प्रशास्ता को मार डालना।

(१६) राष्ट्र-नायक, निगम-नेता (व्यापारी-प्रमुख), सुप्रसिद्ध सेठ को मार डालना।

(१७) जो जनता के लिए द्वीप और त्राण हो, वैसे जन-नेता को मार डालना।

(१८) संयम के लिए तत्पर मुमुक्षु और संयमी साधु को संयम से विमुख करना।

(१९) अनन्त ज्ञानी का अवर्णवाद बोलना — सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना।

(२०) मोक्ष-मार्ग की निन्दा कर जनता को उससे विमुख करना।

(२१) जिन आचार्य और उपाध्याय से शिक्षा प्राप्त की हो उन्हीं की निन्दा करना।

(२२) आचार्य और उपाध्याय की सेवा और पूजा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आप को बहुश्रुत कहना।

(२४) अतपस्वी होते हुए भी अपने-आप को तपस्वी कहना।

(२५) ग्लान साधर्मिक की 'उसने मेरी सेवा नहीं की थी' इस कलुषित भावना से सेवा न करना।

(२६) ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विनाश करने वाली कथाओं का बार-बार प्रयोग करना।

(२७) अपने मित्र आदि के लिए बार-बार निमित्त, वशीकरण आदि का प्रयोग करना।

(२८) मानवीय या पारलौकिक भोगों की लोगों के सामने निन्दा करना और छिपे-छिपे उनका सेवन करते जाना।

(२९) देवताओं की ऋद्धि, द्युति, बल और वीर्य का मखौल करना।

(३०) देव-दर्शन न होने पर भी 'देव-दर्शन हो रहा है' — ऐसा कहना।

